निबन्ध और निबन्ध
उमाकान्त त्रिपाठी
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

निबन्ध और निबन्ध

संपादक

उमाकान्त त्रिपाठी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

क्रम

निबन्ध : एक दृष्टि

निबन्ध को गद्य की कसौटी माना जाता है। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत द्रष्टव्य है—"यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" यह निर्विवाद सत्य है कि निबन्ध में ही गद्य का निजी रूप दृष्टिगोचर होता है। निबन्ध गद्य का वास्तविक प्रतिरूप (Specimen) होता है, क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं में तो गद्य की भाषा एक माध्यम मात्र हैं, परन्तु निबन्ध में वह अपनी पूरी क्षमता एवं सज-धज के साथ अभिव्यक्त होती हैं।

वस्तुतः व्यक्तिगत अनुभूति के कारण ही निबन्धकार वैज्ञानिक एवं तत्त्व चिंतक से भिन्न हो जाता है। श्री जयनाथ 'नलिन' के अनुसार, "निबन्ध व्यक्ति की मानसिक चेतना और भावात्मक अनुभूति का लिखित रूप है और जन विकास का यथार्थ पत्रक भी। निबन्ध किसी देश की जनसत्तात्मक विचार-स्वातंत्र्य और उदार सामाजिकता का लेखा है।........निबन्ध राजनीतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में व्यक्तिवाद या जनसत्ता का सबसे बड़ा हिमायती भी है और इनका अमृतफल भी।........लेखक और पाठक के बीच निबन्ध सबसे छोटा, सरल और सीधा राजपथ है। निबन्ध में तो वह एक साथी के समान पाठक के सामने हृदय खोलकर रखता है और पाठक सीधे और सही रूप में लेखक का परिचय पाता है। निबन्धकार उपदेश नहीं देता, वह बिना छिपाये अपनी बात कहता है। निबन्ध में केवल लेखक की अपनी निजी अनुभूतियाँ, विचार और भावनाएँ रहती हैं; इसीलिए उसे पहचानने में देर नहीं लगती। निबन्ध के द्वारा ही, लेखक अपने पाठक के सामने यथार्थ रूप में बैठता है।........निबन्ध में व्याख्यान का प्रभाव, वक्तृता की मर्यादा, तर्क का बल और पारस्परिक वार्तालाप का आनन्द निहित रहता है। निबन्ध में गद्य के

संपूर्ण बल, तीव्रतम प्रवाह, अमिट प्रभाव, शरीर संकोच और .अर्थ-विस्तार की परख होती है। निबन्ध गद्य को अधिक से अधिक प्राणवान बनाता है। निबन्ध किसी साहित्य के गद्य विकास का मापदण्ड है।"

अर्थ—शाब्दिक दृष्टि से 'निबन्ध' अंग्रेजी के एसे (Essay) अथवा फ्रेंच के 'एसाई' (essai) के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में निबन्ध के पहले प्रस्ताव, आशय, लेख, प्रबन्ध, रचना, सन्दर्भ प्रभृति शब्द प्रयोग के स्तर पर प्रचलित थे।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'निबन्ध' निम्नवत् द्रष्टव्य है—

(१) नि + वंध + घञ

(२) नि + बंध् + अच्

(३) नि + वंध् + ल्युट्

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार 'निश्चितार्थेन विषय अविकृत वंधनम्' किसी विषय को निश्चित अर्थ में बाँधना निबन्ध का अर्थ है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'निबन्ध' ज़टाधर के आयुर्वेदिक सन्दर्भ में आता है। नीम तथा उसके प्रयोग से कुष्ठादि रोगों को रोकना। तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'निबन्ध' का अर्थ है—'निबध्यते अस्मिन् इति, अधिकरणे निबन्धनम्' जिसमें कोई वस्तु, विचार आदि निबद्ध किये जाते हैं, वह अधिकरण। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम और तृतीय व्युत्पत्ति से ही 'निबन्ध' शब्द साहित्यिक अर्थ में विकसित हुआ।

परिभाषा

पाश्चात्य दृष्टिकोण : यद्यपि संस्कृत में निबन्ध का शाब्दिक अर्थ बाँधना है। इस प्रकार निबन्ध वह है जिसमें निःशेष रूप से बन्ध या संगठन हो। 'हिन्दी शब्द सागर' में भी निबन्ध के संबंध में उल्लेख है, "निबन्ध वह व्याख्या है जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो।" परन्तु आज निबन्ध का प्रयोग जिस अर्थ में हो रहा है, वह पूर्ववर्ती अर्थ से सर्वथा पृथक् है। क्योंकि निबन्ध साहित्य की

अधुनातन परिकल्पना हमारे साहित्य में विशेषत: अंग्रेजी साहित्य के संपर्क से आई है और वह अंग्रेजी के (Essay) से सर्वाधिक प्रभावित है। यह अंग्रेजी का एस्से शब्द भी प्राचीन फ्रांसीसी शब्द 'एसाई' से निकला है और उसका अर्थ है, 'प्रयत्न अर्थात् किसी भी विषय पर गद्य में छोटी साहित्यिक रचना।'

शायद इसी हेतु डॉ० मूरे के कोश में भी निबन्ध को इसी रूप में परिभाषित किया गया है, "जिसमें किसी भी विषय का पूर्णत्व से विचार किया गया है, ऐसे किसी भी आकार का अपूर्ण लेखन।" ध्यातव्य है, योरोप में निबन्ध साहित्य के जन्मदाता फ्रांसीसी लेखक मौण्टेन (Montaigne) ने इस शब्द का 'प्रयत्न' अर्थ में ही प्रयोग किया है और उसके विचार से निबन्ध विचारों, उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण है—

'Essay is a mode of reflection, quotation and anecdotes.'

मौण्टेन की तरह लार्ड फ्रांसिस बेकन डॉ० जानसन और क्रेवल आदि विद्वानों ने भी निबन्ध की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। परन्तु उन सभी परिभाषाओं के द्वारा निबन्ध का सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता अतः उनकी और भी परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयीं। उनमें किसी में निबन्ध के आकार पर ध्यान दिया गया तो किसी में निबन्धकार के चिन्तन और चरित्र-चित्रण को महत्व प्रदान किया गया। इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य में निबन्ध की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती है, किन्तु आक्सफोड् डिक्शनरी में उद्धृत निबन्ध की यह परिभाषा, 'An essay is a composition of moderate length on any particular subject or branch of a subject originally implying want of finish, but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range.' न केवल उपयुक्त है वरन् निबन्ध के आधुनिक स्वरूप का भी ध्यान रखती है।

भारतीय दृष्टिकोण : पाश्चात्य साहित्य की भांति हिन्दी साहित्य में भी निबन्ध सम्बन्धी परिभाषाओं की कमी नहीं। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि

हिन्दी समीक्षकों ने बहुत समय तक निबन्ध को परिभाषा निर्धारित करने की ओर ध्यान नहीं दिया। किसी समीक्षक ने इस दिशा में प्रयास भी किया है तो अंग्रेजी शब्दावली का आधार लेकर निबन्ध की विशेषताओं का उल्लेख मात्र किया है। इस-प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और डा० श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' में निबन्ध का विवेचन होते हुए भी निबन्ध की परिभाषा नहीं दी गयी। यदि तद्युगीन किंचित् अन्य विचारकों ने निबन्ध को परिभाषित करने का प्रयास भी किया तो उसे पूर्ण नहीं माना जाता। कालान्तर में बाबू गुलाबराय ने निबन्ध की उपयुक्त परिभाषा देने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार "निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया है।"

निःसन्देह ही अन्य हिन्दी परिभाषाओं की अपेक्षा उक्त परिभाषा में निबन्ध का बहुत कुछ स्वरूप सामने आता है, किन्तु श्री जयनाथ 'नलिन' इस परिभाषा से भी संतुष्ट नहीं हैं और उन्होंने निबन्ध को इस रूप में पारिभाषित किया है, "निबन्ध स्वाधीन चिंतन और निश्छल अनुभूतियों का सरल, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।" इसे यों भी कह लें "निबन्ध गद्यकाव्य की वह मर्यादित विधा है, जिसमें लेखक के स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों की सरस, सजीव अभिव्यक्ति हो।" लेकिन निबन्ध के विषय में डा० भगीरथ मिश्र की निम्नांकित परिभाषा सर्वाधिक उपयुक्त है—"निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दतापूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।" इन परिभाषाओं को देखते हुए निबन्ध की सुविधाजनक परिभाषा दी जा सकती है—निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें किसी विशिष्ट विषय को क्रमबद्ध और संयत भाषा में स्वच्छन्दता-

पूर्वक लेखक की विशिष्ट शैली में सीमित आकार के भीतर चित्रित किए गये हों। इस परिभाषा से अधोलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

१. निबन्ध का आकार सीमित होता है तथा उसमें विशिष्ट विषय ही प्रतिपादित होता है।

२. भावों और विचार में क्रमबद्धता, सुसम्बद्धता तथा संगतता होती है।

३. परिमार्जित, प्रौढ़ और संयत भाषा का प्रयोग होता है।

४. शैली में स्वच्छता एवं व्यक्ति-स्वातंत्र्य होता है।

निबन्ध के समानार्थी शब्दों की विवेचना से इसका स्वरूप और स्पष्ट हो जाता है। सामान्यतः लेख, रचना, संदर्भ, प्रबन्ध, निबन्ध समानार्थी हैं। किन्तु इनकी अपनी पृथक्-पृथक् समानताएँ और असमानताएँ हैं। 'लेख' में किसी विषय का मात्र वर्णन होता है। इसमें आत्माभिव्यंजना या व्यक्तित्व की प्रधानता की कोई अनिवार्य शर्त नहीं होती। इसमें वस्त्र की प्रधानता होती है, व्यक्ति की नहीं। 'रचना' गद्य तथा पद्य दोनों रूपों में लिखी जा सकती है। 'संदर्भ' में पूर्वापर सम्बन्धी घटनाओं को पिरोया जाता है।

'प्रबन्ध' निबन्ध की अपेक्षा व्यापक होता है। किसी विषय पर सर्वांगीण और विशिष्ट पद्धति पर किया गया अध्ययन प्रबन्ध कहलाता है। यह अंग्रेजी में ट्रीटाइज तथा थीसिस का पर्याय है। इससे स्पष्ट है कि निबन्ध इन सभी से अपना अलग विशिष्ट स्थान रखता है।

प्रमुख रूप से निबन्ध के तीन तत्त्व माने गये हैं—प्रस्तावना या उठान, विवेचन या विकास और परिणाम या समाप्ति। निबन्ध की प्रस्तावना निबन्धकार की योग्यता का परिचय देती है। उच्चकोटि के निबन्धकार की प्रस्तावना ऐसी गुणयुक्त होती है कि उसका प्रथम वाक्य ही निबन्ध के गुण-दोष प्रकट देता है। प्रस्तावना लिखने में या अपने प्रतिपाद्य विषय का आरंभ करने में निबन्धकार को बहुत ही सूझबूझ का परिचय देना पड़ता है। वह विषय का

आरंभ इस प्रकार से करता है कि उससे निबन्ध के विषय का ज्ञान संक्षेप में हो जाय। निबन्ध के स्वरूप सम्बन्धी किंचित्-विशेषताएँ निम्नवत् द्रष्टव्य हैं—

१. कसावट—निबन्ध कसा हुआ, आकार में छोटा एवं अपने आप में पूर्ण होना चाहिए। भावों और विचारों का विखराव इसमें वर्जित होता है।

२. स्वतः पूर्णता—निबन्ध के छोटे आकार का यह अर्थ नहीं कि वह अधूरा हो। वस्तु छोटी या बड़ी हो सकती है पर वह पूर्ण भी होती है। निबन्ध छोटे गुलाब के फूल की तरह अपने में पूर्ण रचना है। उसकी पूर्णता कसी हुई, ठोस तथा सरस अभिव्यक्तिपूर्ण होती है। उसमें 'मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि' होती है क्योंकि उसकी लघु आकार की पूर्णता में विराटता छिपी रहती है।

३. सम्बद्धता—भावों और विचारों का तारतम्य निबन्ध की मुख्य विशेषता है। कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि निबन्ध में क्रम का अभाव है, यथा व्यक्तिपरक निबन्धों में। लेकिन ऐसे निबन्धों में भी लेखक की असम्बद्धता में भी एक अजीब ढंग का तारतम्य जुड़ा रहता है और इसी में उस निबन्ध का सौन्दर्य है।

४. प्रवाह—निबन्ध के लिए कोई विषय अछूता नहीं। निबन्धकार अपने कौशल से उसमें जान डाल देता है। निबन्ध की अपनी एक स्वतंत्र गति तथा उच्छल प्रवाह होता है। विचार-प्रधान निबन्धों में इस प्रवाह की गति गम्भीर होती है और भावात्मक निबन्धों में उर्मिल। लेकिन प्रवाह दोनों में ही समान रहता है।

५. उद्देश्य--निबन्ध का उद्देश्य रस-सृष्टि के द्वारा हृदय की अनुभूतियों को व्यापक बनाना है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति कीं वैचारिक अनुभूतियाँ तथा व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् होते हैं। साहित्य और कलाएँ इस विभिन्नता में अभिनत्व की प्रतीति करती हैं। निबन्ध पाठकों में इसी अभिनत्व की स्थापना करते हुए उनकी अनुभूतियों को विस्तृत एवं संवेदना को तीव्र बनाता है।

प्रकार—निबन्ध कई प्रकार के होते हैं। सामान्यतया निबन्धों के वर्गीकरण का आधार विषय, प्रतिपादन शैली, स्वरूप, आभ्यन्तरिक तत्त्व आदि में किसी को बनाया जा सकता है। यही कारण है कि कुछ समीक्षक निबन्ध के विचारात्मक, भावात्मक, व्याख्यानात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक पाँच प्रकार मानते हैं किन्तु कुछ विचारकों ने निबन्ध के विचारात्मक तथा भावात्मक दो ही प्रकार माने हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी निबन्ध के मूलतः दो वर्ग—विचार-प्रधान और भाव-प्रधान ही स्वीकारा है। लेकिन निबन्ध के दो ही वर्ग स्वीकार करने वाले समीक्षकों की संख्या बहुत ही न्यून है। अधिकांश विद्वानों ने तीन से लेकर छः तक निबन्ध के भेद माने हैं। किन्तु सामान्यरूप से शैली और संरचना के अनेकानेक प्रकारों को दृष्टि में रखते हुए मुख्य चार उपभेद ही हैं जिनमें स्थूल रूप से निबन्ध को विभक्त किया जा सकता है—

१. वर्णनात्मक निबन्ध—वर्णनात्मक निबन्ध में किसी प्राकृतिक वस्तु, किसी स्थान, प्रान्त या किसी मनोहर आह्लादकारी दृश्य का वर्णन किया जाता है। इस कोटि के निबन्धों का मुख्य सम्बन्ध देश से ही रहता है और निबन्धकार मस्तिष्क या तर्क से अधिक काम न लेकर दृश्येन्द्रिय और कल्पना का ही अधिक अवलम्ब ग्रहण करता है। इस प्रकार के निबन्धों में व्यास शैली ही प्रयुक्त होती है और वर्णन की दो प्रधानता रहती है। यथा—

"वृक्षों के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर मैं देखता हूँ कि छाया और प्रकाश के ये छोटे-छोटे बच्चे यहाँ एक-दूसरे से हिल-मिलकर खेल रहे हैं। वसंत का भीना-भीना पवन वृक्ष के पल्लवों को गुदगुदाता है और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट-पोट होकर गिर-गिर पड़ते हैं, एक दूसरे के ऊपर।"

—अपूर्ण : सियारामशरण गुप्त

२. विवरणात्मक निबन्ध—विवरणात्मक निबन्ध में गतिशील वस्तुओं, काल और परिस्थितियों का वर्णन रहता है। आखेट, पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेश की यात्रा, नदियों के उद्‌गम स्रोत की खोज प्रभृति साहसिक कृत्यों के वर्णन इस प्रकार के निबन्धों में होते हैं। इसमें भी व्यास शैली ही प्रयुक्त होती है

और इस प्रकार के निवन्धों को कथात्मक, जीवन चरित्रात्मक तथा घटनात्मक जैसे तीन भागों में विभक्त किया जाता है। विवरणात्मक निबन्ध का एक उदाहरण निम्नवत् द्रष्टव्य हैं—"किरन डूबते-डूबते बारात हिमालय के दरवाजे पहुँची। तामझाम के साथ सास· परछने आई, सो वर के सिर पर साँप के फन का मौर, गले में मुंडों की माला, कटि के नीचे गज का कड़कड़ा चर्म और एक हाथ में डमरू, दूसरे में लम्बा त्रिशूल देखते ही उनके हाथ से सोने की थाली छूटकर गिर पड़ी और वे गिरती-पड़ती आँगन में पहुँचकर नारद के सात पुश्त का लोक भाषा में तर्पण करने लगीं।"

—शिवजी की बारात : विद्यानिवास मिश्र

३. विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध—इस प्रकार के निवन्धों में बौद्धिक विवेचन की प्रधानता रहती है, हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक महत्व दिया जाता है और दर्शन, अध्यात्म, मनोविज्ञान आदि की विवेचना होती है। इन निवन्धों में निबन्धकार के एक विचार से दूसरा विचार निःसृत होकर विचारों की शृंखला बनाता चलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "शुद्ध विचारात्मक निवन्धों का उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है, जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हों।" इस कोटि के निवन्धों के ही आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक जैसे कई प्रकार होते हैं। विचारात्मक या विवेचनात्मक निवन्धों में व्यास और समास दोनों शैलियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। विचारात्मक निवन्ध का यह उदाहरण दर्शनीय है—

"क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है, इसी से अवसर पड़ने पर यह और मनोविकारों का साथ देकर उनकी तुष्टि का साधन होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के।"

—क्रोध : आ० रामचन्द्र शुक्ल

४. भावात्मक निबन्ध—भावात्मक निबन्धों में बुद्धितत्व की अपेक्षा भाव-

तत्व का प्राधान्य होता है क्योंकि इनका संबंध हृदय से रहता है। इस प्रकार के निवन्धों में रागात्मकता का आधिक्य होने के कारण इन्हें कवित्वपूर्ण निबन्ध भी कहा जाता है। इनमें धारा शैली, तरंग शैली और विक्षेप शैली का प्रयोग होता है। वावू गुलावराय के शब्दों में "धारा शैली में भावों की धारा प्रवाहमय रहकर प्रायः एक गति से चलती है किन्तु तरंग शैली में वे भाव लहराते हुए प्रतीत होते हैं—तरंग की भाँति उठते और गिरते प्रतीत होते हैं, विक्षेप शैली में वह कुछ-कुछ उखड़ी हुई रहती है, उसमें तारतम्य और नियंत्रण का अभाव रहता है।" भावात्मक निवन्ध का उदाहरण निम्नवत् द्रष्टव्य है।—

"विचार आया, राग भागा, अनुराग आन्दोलित हुआ, आदर्शगु दगुदाया और लोक जीवन पर उतरने के लिए, मानों जीवित रहने के लिए ये सब के सब चल पड़े कला का माध्यम ढूंढ़ने; चल पड़े ये किसी की कलम, कण्ठ या कूची के मुहताज होने। सूझ कला का वल है, माध्यम और अभ्यास उसके पंख हैं, जिनके बिना वह उड़ नहीं सकती।"

—युग और कला : माखनलाल चतुर्वेदी

शैली—इन निवन्धों में जो शैलियाँ अपनायी जाती हैं वे हैं—

१. प्रसाद शैली—इसकी भाषा सरल और सुबोध होती है।

२. समास शैली—समास शैली में तत्सम प्रधानता और समास वहुलता होती है। वाक्य वड़े-वड़े होते हैं।

३. विवेचनात्मक शैली—इनमें तर्क-वितर्क, व्याख्या, निर्णय तथा प्रमाण का आग्रह रहता है। विचार एक-दूसरे से गुंथे रहते हैं।

४. व्यंग्यात्मक शैली—इस शैली में व्यंग्य के छींटे कसे जाते हैं। इस शैली में वात सुनने में वहुत अच्छी लगती है पर उसका प्रभाव वहुत गहरा होता है। इतना गहरा कि सुननेवाला तिलमिला कर रह जाता है।

५. आवेश और प्रलाप शैली—भाव और विचार जहाँ झरने की तरह प्रवाहित होते हैं वहाँ यह शैली प्रयुक्त होती है। इसमें आन्तरिक आवेग प्रबल रहता है।

उद्भव और विकास

हिन्दी गद्य विकास के आरंभिक चरण में निबन्ध सर्वाधिक सहायक तत्त्व रहे। भारतेन्दु-पूर्व के निबन्धों में 'राजाभोज का सपना' प्रसिद्ध है, किन्तु सच्चे अर्थों में हिन्दी निबन्ध भारतेन्दु युग में ही लिखे गये। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने स्पष्ट रूप से कहा है, 'निबन्ध रचना केवल खड़ी बोली की विशेषता है।' डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी निबन्ध-लेखन की परंपरा का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही मानने पर बल दिया है। डा० रामविलास शर्मा भी उक्त मत के ही हिमायती हैं—'भारतेन्दु युग में पत्र साहित्य ने जो उन्नति की उससे निबन्ध को विशेष प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार हिन्दी में निबन्ध का आविर्भाव आधुनिक युग में हुआ है और प्रयत्न करके भी हिन्दी-निबन्ध-परम्परा को अतीत में बहुत दूर तक नहीं खींचा जा सकता। निबन्धकारों की दृष्टि से हिन्दी निबन्ध साहित्य के विकास को क्रम से भारतेन्दुयुग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग और शुक्लोत्तर युग या अद्यतन युग के रूप में विभक्त किया जा सकता है किन्तु काल-क्रम की दृष्टि से हिन्दी निबन्ध साहित्य के विकास को निम्नवत् अलगाया जा सकता है—

(१) प्रादुर्भाव-काल	(१८७५–१९०० ई०)
(२) प्रसार-काल	(१९००–१९२० ई०)
(३) परिपाक-काल	(१९२०–१९३५ ई०)
(४) उत्कर्ष-काल	(१९३५–१९५० ई०)
(५) नव संक्रमण-काल	(१९५० से आगे)

निःसन्देह निबन्ध आधुनिक युग की देन है पर समीक्षकों में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं है कि हिन्दी का प्रथम निबन्धकार किसे माना जाय। इस सम्बन्ध

में समीक्षकों का एक वर्ग पं० बालकृष्ण भट्ट को 'हिन्दी निबन्ध का जनक' मानता है तो दूसरा, मुंशी सदासुखलाल को। किसी वर्ग का कहना है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी के प्रथम निबन्धकार हैं तो प्रो० वासुदेव एम० ए० के समर्थक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दी निबन्ध का जन्मदाता मानते हैं। इस सम्बन्ध में डा० रामचन्द्र तिवारी का कथन अधिक समीचीन प्रतीत होता है, 'वस्तुतः साहित्य की किसी भी विधा का सूत्रपात व्यक्ति-विशेष से मानना बहुत उचित नहीं है।' अस्तु किसी भी प्रकार के विवाद में न पड़कर हिन्दी निबन्ध का सूत्रपात भारतेन्दुयुगीन निबन्धकारों की रचनाओं से मानना ही अधिक समीचीन है।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग गद्य का प्रारंभिक काल था अतएव इस युग के निबन्धों में प्रौढ़ता एवं गांभीर्य की अपेक्षा मनोरंजन और चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही प्रमुख रही। किन्तु यह अवश्य है कि सारहीन को तड़क-भड़क की जगह निबन्धकारों ने सजीवता पर अधिक ध्यान दिया और निबन्धों में वैयक्तिक विशिष्टताओं, हास्य-विनोद तथा व्यंग्य का समावेश भी कुशलतापूर्वक किया गया। ध्यातव्य है कि वैयक्तिकता का अर्थ मात्र इतना ही है कि निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की पूर्ण छाप थी पर वे व्यक्ति सम्बन्धी न थे। इस युग के निबन्धों में राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति का प्रकाशन भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। विषय की दृष्टि से इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, यात्रा, प्रकृति-चित्रण प्रभृति विषयों पर कई निबन्ध लिखे गये।

भारतेन्दु युग के प्रमुख निबन्धकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, लाला श्रीनिवासदास और काशीनाथ खत्री का नाम उल्लेखनीय है। स्वयं भारतेन्दु ने 'रामायण का समय, काश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण, संगीतसार, हिन्दीभाषा, नाटक, हरिद्वार, वैद्यनाथ की यात्रा,' शीर्षक विविध प्रकार के निबन्ध लिखे। पं० बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में गहन

अध्ययन-मनन का आभास मिलता है। इन्होंने 'माता का स्नेह, काल-चक्र का चक्कर, प्रतिभा, माधुर्य, आत्म-गौरव, रुचि, बोध, चन्द्रोदय' जैसे विविध प्रकार के निवन्ध लिखे। पं० प्रतापनारायण मिश्र सही माने में आत्माभिव्यंजक निवन्ध-कार थे। व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की सच्ची झलक उनके 'दाँत, भौंह, खुशामद, बालक' आदि निवन्धों में देखी जा सकती है। श्रीबालमुकुन्द गुप्त के निवन्धों में सामाजिक सजग द्रष्टा की दृष्टि दिखायी पड़ती है। व्यंग्यपूर्ण शैली में राजनयिक विषयों पर लिखे गये उनके 'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'खत' पूरे हिन्दी निवन्ध साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

द्विवेदी युग

वस्तुतः आधुनिक हिन्दी गद्य के उन्नायक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साथ ही हिन्दी गद्य का परिमार्जन प्रारम्भ हुआ और गद्य के विविध अंगों की समृद्धि के अनेक प्रयत्न किये जाने लगे। यही कारण है कि इस युग में निवन्ध साहित्य का भी व्यापक विस्तार हुआ और विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक प्रभृति प्रकार के निवन्ध लिखे गये। द्विवेदीयुगीन निबन्ध साहित्य में विषय, शैली, विचारधारा आदि की दृष्टि से विकास ही परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में श्रीगंगाबख्श सिंह का विचार द्रष्टव्य है—"द्विवेदी युग के लेखन ने जीवन और साहित्य के सभी क्षेत्रों से निवन्धों के विषय चुने। यदि एक ओर राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक भावनाओं को निवन्धों में प्रश्रय मिला तो दूसरी ओर साहित्य के विभिन्न अंगों की विवेचना उपस्थित करने के लिए भी निवन्धों की रचना हुई। ''''लेखकों ने कभी भौतिक जगत के मूर्त पदार्थों को निवन्ध का विषय बनाया तो कभी मनोविज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म भावों पर निवन्ध प्रस्तुत किये गये। ''''वास्तव में स्थायी और सामाजिक तथा सामान्य और विशेष सभी प्रकार के विषयों पर निवन्ध प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इस युग के निवन्धकारों में मिलती है।" इस युग के निवन्ध-साहित्य पर पाश्चात्य एवं अन्य भारतीय भाषाओं—विशेषकर मराठी एवं बंगला आदि—का प्रभाव भी द्रष्टव्य है।

द्विवेदीयुगीन प्रमुख निवन्धकारों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, सरदार पूर्ण सिंह, गोपालदास गहमरी, गोविन्दनारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', मिश्रवन्धु, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, डा० श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा आदि की गणना की जाती है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी भाषा और साहित्य को प्रामाणिक और महिमामय स्वरूप प्रदान करने में अधिक दत्तचित्त थे। फिर भी निवन्धकार की दृष्टि से भी उनका उल्लेखनीय योगदान है। वे साहित्य को ज्ञानराशि का संचित कोश मानते थे और उनकी यह मान्यता उनके द्वारा सर्जित प्रत्येक रचना में चरितार्थ होती दिखायी पड़ती है। 'कवि और कविता', 'साहित्य की महत्ता', 'प्रतिभा' और 'नाटक' आदि उनके ऐसे ही ज्ञानपूर्ण निवन्ध हैं। शुद्ध निवन्धों की कोटि के समीप उनके 'दण्डदेव का आत्मनिवेद', गोपियों की भगवद्भक्ति', 'हंस का नीर-क्षीर विवेक' आदि कुछ थोड़े से ही निबन्ध आते हैं।

द्विवेदी युग के दूसरे प्रमुख निवन्धकार हैं सरदार पूर्ण सिंह। उन्होंने 'सच्ची वींरता', 'आचरण की सभ्यता' तथा 'मजदूरी और प्रेम' नामक मात्र तीन निबन्धों के वल पर ही हिन्दी निवन्ध साहित्य में उच्चातिउच्च स्थान प्राप्त कर लिया है और उनके सम्बन्ध में यहाँ तक कहा जाता है कि 'यह व्यक्तित्व इस युग की सवसे बड़ी देन है। उनकी शैली में वक्रता है, कसाव भी है और व्यंग्य भी, विचारात्मकता तथा भावात्मकता का स्वस्थ मिश्रण भी उनमें मिलेगा।' यद्यपि द्विवेदीयुगीन अन्य निवन्धकारों के विषय वस्तु की दृष्टि से द्विवेदीजी का ही अनुकरण करते हुए अधिकांशतः विचारात्मक निवन्ध ही लिखे पर कहीं-कहीं शैली की विशिष्टता पायी जाती है। इस दृष्टि से माधवप्रसाद मिश्र के 'धृति', 'सत्य और सब मिट्टी हो गया', चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहिं कुठाँव', गोविन्दनारायण मिश्र के 'कवि और चित्रकार', 'आत्माराम की टें-टें', गोपाल गहमरी के 'ऋद्धि-सिद्धि' और श्यामसुन्दरदास के 'समाज और साहित्य', 'भारतीय साहित्य की विशेषता' आदि निवन्ध विशेष उल्लेखनीय हैं।

शुक्लयुग

निबन्धों में वैयक्तिक अभिव्यंजनाओं को स्थान देते हुए उन्हें गुरु–गम्भीर और उच्चस्तरीय अध्ययन-मनन के योग्य स्तर तक ले जाने का कार्य आ० रामचन्द्र शुक्ल ने किया। एक ओर उन्होंने साहित्यिक विषयों पर समीक्षात्मक ढंग से निबन्ध लिखे तो दूसरी ओर 'उत्साह', 'क्रोध', 'लज्जा और ग्लानि', 'श्रद्धा और भक्ति', 'ईर्ष्या' आदि मनोवैज्ञानिक विषयों पर अत्यन्त सरस किन्तु ज्ञान-गम्भीर निबन्धों का प्रणयन किया। इस दृष्टि से उनका 'चिन्तामणि' निबन्ध-संग्रह सचमुच ही हिन्दी-निबन्ध-चिन्तामणि है।

शुक्लजी के निबन्ध विचारात्मक हैं पर उनमें उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है। हिन्दी में शुक्लजी ने ही वैयक्तिक निबन्धों का आदर्श प्रस्तुत किया। उनकी भाषा-शैली भी सराहनीय है और उन्होंने अपने निबन्धों में संघटित विचार परम्परा की संहिति एवं पारस्परिक अन्विति पर विशेष ध्यान रखा है। सामान्यतः शुक्लजी की शैली विवेचनात्मक है। उसमें समास प्रणाली के अनुरूप विषय की मर्मस्पर्शी व्याख्या के साथ-साथ भावों तथा विचारों की सुसम्बद्ध व्यवस्था भी है। इसी प्रकार उनकी भाषा में अभिव्यंजना-शक्ति की प्रबलता, भव्यता और विशालता भी है तथा उनके निबन्धों में प्रत्येक वाक्य का अपना निजी महत्त्व है। यद्यपि शुक्लजी की शैली पर शुष्कता और नीरसता का भी आरोप लगाया जाता है किन्तु उनकी शैली में भावप्रवणता और सरसता की कमी नहीं है। कहीं-कहीं तो हास्य और व्यंग्य की मधुर चुटकियों की भरमार भी है।

शुक्ल युग निर्विवाद रूप से हिन्दी निबन्ध का स्वर्णयुग है। इस युग के अन्य निबन्धकारों में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, जयशंकरप्रसाद, डा० धीरेन्द्र वर्मा, बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, डा० रघुवीर सिंह आदि उल्लेखनीय हैं।' डा० बड़थ्वाल के निबन्धों का एक संग्रह 'मकरन्द' नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनके अधिकांश निबन्ध शोधपूर्ण हैं। प्रसादजी के निबन्ध संख्या में अधिक न होते हुए भी महत्त्व की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा का एक निबन्ध

संग्रह 'विचारधारा' है। विचार विश्लेषण तथा गम्भीर अनुसंधान की दृष्टि से वर्माजी के निबन्ध हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं। बाबू गुलाबराय ने साहित्यिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, हास्यपरक प्रभृति विषयों पर सैकड़ों निबन्ध लिखे हैं। आपके निबन्धों में विनोदपूर्ण ढंग से लिखे गये व्यक्ति-व्यंजक निबन्धों के उत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ते हैं। माखनलाल चतुर्वेदी, रायकृष्णदास, वियोगी हरि और डा० रघुवीर सिंह ने हिन्दी साहित्य में भावात्मक निबन्धों की परम्परा को विकसित किया। इस प्रकार शुक्ल युग के निबन्धकारों ने सभी दृष्टियों से परवर्ती निबन्धकारों के लिए मार्ग प्रशस्त किया और हिन्दी-निबन्ध-साहित्य को सुसमृद्ध करने में अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

शुक्लोत्तर युग या अद्यतन युग

यह युग हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का प्रसारण काल है। इसमें संदेह नहीं कि अब निबन्ध-साहित्य खूब फूल-फल रहा है तथा उसकी नवीन उपलब्धियाँ निर्विवाद रूप से प्रशंसनीय हैं। इस युग के निबन्धकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, श्रीमती महादेवी वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, रघुवीर सिंह, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, ड़ा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, सच्चिदानन्द वात्स्यायन, 'अज्ञेय' नलिनविलोचन शर्मा, डा० भगीरथ मिश्र, राहुल सांकृत्यायन, श्रीनारायण चतुर्वेदी, प्रभाकर माचवे, गोपालप्रसाद व्यास, डा० विद्यानिवास मिश्र, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी, कुबेरनाथ राय, हरिशंकर परसाई, धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र, रांगेय राघव, अमृतराय, नामवर सिंह, रामनारायण उपाध्याय आदि हैं।

शुक्लोत्तर युग के निबन्धकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी निबन्धों को निबन्ध की ऊँचाई प्रदान करने का श्रेय पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को ही है। व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की जो भव्यता उनमें दिखायी पड़ती है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। 'अशोक के फूल', 'देवदारु', 'कुटज', 'आम फिर बौरा गये' आदि निबन्ध हिन्दी निबन्धों की उत्कृष्टतम

श्रेणी में रखे जाते हैं। श्री जैनेन्द्रकुमार निबन्धों के क्षेत्र में दार्शनिक चिन्तक के रूप में प्रायः उभर कर आते हैं किन्तु जहाँ यह दार्शनिक आवरण नहीं है वहाँ वे एक सहज निबन्धकार की भाँति पाठक के अति निकट बैठकर विचार-विमर्श करते प्रतीत होते हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' 'शृंखला की कड़ियाँ', 'स्मृति की रेखाएँ' जैसे संग्रहों के माध्यम से संस्मरणात्मक ढंग के रेखाचित्रों से हिन्दी की एक विशिष्ट श्रेणी की श्रीवृद्धि की है। बनारसीदास चतुर्वेदी के संस्मरण तथा रेखाचित्र भी महत्त्वपूर्ण हैं। रघुवीर सिंह के भावनात्मक निबन्धों में अतीत का सजल आलोक निखरा है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, नलिनविलोचन शर्मा, डा० भगीरथ मिश्र आदि के निबन्ध उनकी विशिष्ट अध्ययन और अनुसंधानपरक दृष्टि से ओत-प्रोत हैं। राहुल सांकृत्यायन के निबन्ध उनके महान पाण्डित्य और वृहत् देश-दर्शन के अनुभवों से युक्त हैं। प्रभाकर माचवे, गोपालप्रसाद व्यास आदि के निबन्धों की व्यंग्यमयी शैली बड़ी सहजता से तीखे प्रहार करती है। डा० विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध इस युग के निबन्धों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके निबन्ध एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति की चिन्तनधारा को मुखरित करते हैं वहीं दूसरी ओर देश की माटी की सोंधी गन्ध का भी परिचय कराते हैं। मुक्तिबोध के निबन्धों में एक आम आदमी के जीवन का संघर्ष मूर्तिमान हुआ है। श्रीलाल शुक्ल, हरिशंकर परसाई, रवीन्द्रनाथ त्यागी और शरद जोशी के अधिकांश निबन्ध व्यंग्यात्मक हैं। हिन्दी निबन्ध आज भी अपने उत्कर्ष पथ पर अग्रसर है और वर्तमान समय में उत्कृष्ट कोटि के निबन्धकार इसमें योगदान कर रहे हैं।

●

रुचि

•

बालकृष्ण भट्ट

कोई काम हो उमदा तरह कभी नहीं होगा जब तक उस काम में रुचि न हो। गीता में भगवान कृष्णचन्द्र ने कहा :

> अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
> असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

बिना श्रद्धा अर्थात् रुचि के जप, तप, दान, हवन आदि जो किया जाता है, सब व्यर्थ है—करना न करना दोनों एक-सा है; न परलोक में उसका कुछ फल मिलता है, न इसी लोक में उस काम की कोई तारीफ करता है। शास्त्र वालों ने विधिपूर्वक या विधिवत् पर बड़ा जोर दिया है। सच पूछो तो रुचि या श्रद्धा के किसी काम का करना ही विधि है; क्योंकि विधि तभी हो सकती है जब मन में हमारे उस काम की ओर रुचि है। ध्यान जमा कर देखिए तो मनुष्य जन्मते ही रुचि में दखल देने लगता है, मानो रुचि उसकी दासी या जरखरीद लौंडी हो; बच्चे की माँ के दूध के एवज गाय या बकरी का दूध शीशी या रूई के फाहे में जाता है तो वह उसको ऐसी रुचि से नहीं पीता, जैसा माँ का दूध। ऐसा ही माँ की गोद के बदले उसे पालने या चारपाई पर सुला दो, तो कदाचित् दस में दो-एक ऐसे होंगे जिनको बिना रोए-गाये खुशी से उस पर लेटे रहना रुचेगा। फिर ज्यों-ज्यों उमर में वह बढ़ता है, अपने हर एक काम, खाना, पीना, सोना, ओढ़ना, पहिनना, खेल-कूद, पढ़ना-लिखना आदि में रुचि को जगह देता जाता है।

रुचि ही के जुदे-जुदे प्रकारांतर या उसकी बारीकियाँ फैशन के नाम से चल पड़े हैं, इसी नयी सभ्यता के जमाने में जिसकी हद से जियादह छानबीन हो रही है। फ्रांस और इंग्लैण्ड सरीखे मालदार सुसभ्य देशों में जिसकी यहाँ तक उन्नति है कि सुनते हैं, इंग्लैण्ड में अमीर घरानों की लेडियों के लिए दिन में तीन बार पेरिस से उनके पोशाक आदि वेष-भूषा का नमूना आया करता है। वैसा ही हम लोग अपने खाने-पीने में रुचि की बारीकियों को बेहद बढ़ाये हुए हैं। कोई कहते हैं, हम नहीं जानते लोगों को रोटी खाना कैसे पसन्द आता है; हमको तो दोनों जून ताजी-ताजी लुचुई और वेजुनी मिलती जाय तो कभी कच्ची रसोई का नाम न लें। दूसरे कहते हैं, तुम्हारी भी क्या ही रुचि हैं ? लुचुई-सी सकील चीज तुम्हें कैसे रुचती है; अजी कहीं बिना कच्ची रसोई खाये जी भरता है। हमारे हिन्दुस्तान में कच्ची रसोई का तरीका ऐसा वढ़िया रखा गया है कि अगर तकल्लुफ का मौका दिया जाय तो हकीकत में रसोई रसायन हो जाती है। एक तीसरे बोल उठे, यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। पर मेरी राय है कि खाना मुसलमान बहुत अच्छा पकाते हैं, खुसूसन गोश्त की किस्में। इस पर कोई कंठीबंद वहाँ पर बैठे थे, बोल उठे—हरे हरे, तुम्हारी रुचि कैसी है, हम नहीं कह सकते। हमको तो मांस भोजन का नाम सुन मिचलाई आने लगती है। आपने हमारे गोपाल मंदिर की खुशबूदार वबोधी, मोहन-थाल और दूसरे-दूसरे छप्पन प्रकार के भोग का महाप्रसाद मालूम होता है, कभी आँख से भी नहीं देखा, नहीं तो मुसलमानों के भोजन को कभी न सराहते।

ऐसा ही पेय वस्तु में भी रुचि आ टाँग अड़ाती है। पीना हम उसे कहेंगे जो बिना दाँतों की सहायता के केवल जीभ और तालू से हलक के भीतर जाता है, परन्तु इस रस के ज्ञान में रसना अर्थात् जीभ का अधिक सम्बन्ध है तो वहाँ रुचि की सलाह ली जाती है। पेय पदार्थों में सबसे पहले पानी है जिनको वैद्यक वाले यों कहते हैं—शरत् और वसन्त ऋतु को छोड़ और महीनों में नदी का पानी पीने योग्य है;

पानीयं पानीयं शरदि वसंते च पानीयम् ।
नादेयं नादेयं शरदि वसंते च नादेयम् ।।

कोई कहता है, हम तो सदा ताजा पानी पीते हैं और इसके सैकड़ों फायदे बतलाता है। दूसरे कहते हैं, हम तो जाड़े में भी ठंडा पानी पीते हैं और गर्मियों में तो बिना बर्फ के प्यास बुझती ही नहीं। इतने में एक अंग्रेजी पढ़े वहाँ बैठे थे, बोले आप को मालूम नहीं, कितने निहायत बारीक कीड़े पानी में रहते हैं। इसलिए इसे छान लेना बहुत जरूरी है। लिखा भी है : वस्त्रपूतम् पिबेज्जलम् ।

मैने तो एक फिल्टर खरीदी है, उसी में छान बिलौरी ग्लास में पानी पीता हूँ। बर्फ के साथ शीशे ग्लास में पानी रखकर पीने में बड़ा मजा मिलता है। इतने में एक चौथे साहब बोल उठे—हमको यह सब खट-राग मालूम होता है। यहाँ तो खेरा खेल फरु खाबादी पसन्द आता है। प्यास ने सताया तो दो आने फेंक दिए, सोडावाटर का बोतल मुँह में लगाया, घट्ट-घट्ट उतार गये, कलेजा तर हो गया। इतने में एक पाँचवें साहब, जो वहाँ मौजूद थे, कहने लगे—हे भगवान् ! धर्म के अब तुम्हीं रक्षक हो। न जानिए कैसा समय आया है कि अंग्रेजी पढ़-पढ़ लोग भ्रष्ट होते हैं। अपने तो कैसी ही प्यास लगी हो बिना चरणोदक मिलाये जल कभी नहीं पीते।

अब सोने को लीजिए। पसेरियों खटमल से लदी हुई टूटी खाट से लै उमदा से उमदा पलंग, ईजी चेयर और कोच तक न जानिए कितने खटराग रचे गये हैं। सो सब इस रुचि ही की भाँति-भाँति के ईजाद हैं। इतने पर भी जब नींद का झोंका आता है तब वह रुचि यहाँ तक बेहया बन जाती है कि कंकड़ पर भी सोइए तो मखमली कोच का मजा मिलता है। **'निद्रातुराणां न च भूमिशैय्या'** ऐसे जिद्दी भी सोने वाले मनहूस पाये जाते हैं कि चलते-चलते सोते हैं, खाते-खाते सोते हैं, बातचीत करने में एक बात मुँह से निकली तो दूसरे में अन्तर्धान हो गये।

अब पहनावे को लीजिए। लोग कहते हैं, यहाँ लोग भद्दे हैं, फैशन नहीं जानते। पर यहाँ ग्रन्थ के ग्रन्थ नख-शिख सोलहो सिंगार के ऊपर लिख दिये। यहाँ के अनगिनत किस्म के पोशाक और आभूषण-जुदी-जुदो रुचि के अनुकूल गिनने लगे तो घड़ी दो घड़ी न चाहिए, वरन् दिन का दिन समाप्त हो जाय। तो अब देर तक पढ़ने वालों को इस रुचि के भँवर-जाल में फँसाये रखना और किसी दूसरे लेख के पढ़ने से वंचित रखना है, इसलिए इस सियापे को अब बन्द कर छोड़ते हैं। पढ़ने वालों की रुचि के अनुकूल फिर कभी निकालेंगे।

'मानस' की धर्मभूमि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है, यह हम कहीं पर कह चुके हैं। धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्व-स्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमंडल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टि रूप में, अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के बीच हम करते हैं, भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढ़ी हुई भावना हमें प्राप्त होती है। कुल-विशेष के भीतर ही जो इस प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे उनकी भावना कुलनायक या कुलदेवता तक ही पहुँचेगी, किसी जाति या देश-विदेश के भीतर जो करेंगे, उनकी भावना उस जाति या देश के नेता अथवा उपास्य देवता तक पहुँच कर रह जायगी। भक्त की भावना इतनी ही दूर जाकर संतुष्ट नहीं होती। वह अखिल विश्व के बीच सत् की इस प्रवृत्ति के साक्षात्कार की कल्पना करता है। उसके भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार करता है तब 'आनन्द' का आविर्भाव होता है। इस साधना द्वारा वह भगवान् का सामीप्य-लाभ करता चला जाता है। इसी से तुलसी को राम 'अंतरजामिहु से बड़ बाहरजामी' लगते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति अर्थात् धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं, जैसे गृहधर्म, कुलधर्म,

समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रहने वाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है। समाजधर्म से लोकधर्म; लोकधर्म से विश्वधर्म जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखायी पड़ता है। यह पूर्णधर्म अंगी है और शेष धर्म अंग। पूर्णधर्म जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से है, वस्तुतः पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है। इसी अनुभूति के अनुरूप उसके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृहधर्म पर दृष्टि रखने वाला किसी परिवार की रक्षा देख कर, वर्गधर्म पर दृष्टि रखने वाला किसी वर्ग या समाज की रक्षा देख कर और लोकधर्म पर दृष्टि रखने वाला लोक या समस्त मनुष्य-जाति की रक्षा देख कर आनंद का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्ध धर्म का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते हैं, जिनके भगवान् पूर्णधर्म-स्वरूप हैं। अतः वे कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा देखकर आनन्द प्राप्त करते हैं। विषय की व्यापकता के अनुसार उनका आनन्द भी उच्चकोटि का होता है।

धर्म की जो ऊँची-नीची भूमियाँ ऊपर कही गयी हैं, वे उसके स्वरूप के सम्बन्ध में हैं, उसके पालन के स्वरूप के सम्बन्ध में नहीं। पालन का स्वरूप और बात है। उच्च से उच्च भूमि के धर्म का आचरण अत्यन्त साधारण कोटि का हो सकता है। इसी प्रकार निम्न भूमि के धर्म का आचरण उच्च से उच्च कोटि का हो सकता है। गरीबों का गला काटने वाले चींटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं; अकाल-पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चंदा न देने वाले अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।

यह हम कई जगह दिखा चुके हैं कि ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति को लेकर गोस्वामी जी की भक्ति-पद्धति चली है। उनके राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं। राम के लीला-क्षेत्र के भीतर धर्म के विविध रूपों का प्रकाश उन्होंने देखा है। धर्म का प्रकाश अर्थात् ब्रह्म के सत्स्वरूप का प्रकाश इसी नाम-रूपात्मक व्यक्त जगत् के बीच होता है। भगवान् की इस स्थिति-विधायिनी व्यक्त कला में हृदय न रमा कर, बाह्य जगत् के नाना कर्म-क्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य ज्योति के स्फुरण का दर्शन न करके जो आँख मूँदे अपने अन्तःकरण के किसी कोने में ही ईश्वर को ढूँढ़ा करते हैं, उनके मार्ग से गोस्वामी जी का भक्ति-मार्ग अलग है। उनका मार्ग ब्रह्म का सत्स्वरूप पकड़ कर, धर्म की नाना भूमियों पर से होता हुआ जाता है। लोक में जब कभी भक्त धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान् उसकी दृष्टि से—खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अन्धकार फाड़कर धर्मज्योति फूट पड़ती है तब मानो उसके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है।

(हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कही गयी है।) अतः मोक्ष का—किसी ढंग के मोक्ष का—मार्ग धर्ममार्ग से बिलकुल अलग-अलग नहीं जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता हैं। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है। अतः हमारे जीवन की पूर्णता कम-धर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में है। साधना किसी प्रकार की हो, साधक की पूरी सत्ता के साथ होनी चाहिए—उसके किसी अंग को सर्व था छोड़कर नहीं। यह हो सकता है कि कोई ज्ञान को प्रधान रख कर, धर्म और उपासना को अंगरूप में लेकर चले; कोई भक्ति को प्रधान रखकर, ज्ञान और कर्म को अंगरूप रख कर चले। तुलसीदास

जी भक्ति को प्रधान रख कर चलने वाले अर्थात् भक्तिमार्गी थे। उनकी भक्ति-भावना में यद्यपि तीनों का योग है, पर धर्म का योग पूर्ण परिणाम में है। धर्म-भावना का उनकी भक्ति-भावना से नित्य सम्बन्ध है।

'रामचरितमानस' में धर्म की ऊँची-नीची विभिन्न भूमियों की झाँकी हमें मिलती है। इस वैविध्य के कारण कहीं-कहीं कुछ शंकाएँ भी उठती हैं। उदाहरण के लिए भरत और विभीषण के चरित्रों को लीजिए।

जिस भरत के लोकपावन चरित्र की दिव्य-दीप्ति से हमारा हृदय जगमगा उठता है, उन्हीं को अपनी माता को चुन-चुन कर कठोर वचन सुनाते देख कुछ लोग संदेह में पड़ जाते हैं। जो तुलसीदास लोकधर्म या शिष्ट मर्यादा का इतना ध्यान रखते थे, उन्हीं ने अपने सर्वोत्कृष्ट पात्र द्वारा उसका उल्लंघन कैसे कराया ? धर्म की विविध भूमियों के सम्बन्ध में जो विचार हम ऊपर प्रकट कर आये हैं उन पर दृष्टि रख कर यदि समझा जाय तो इसका उत्तर शीघ्र मिल जाता है। यह हम कह आये हैं कि धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जनसमूह के दुःख-सुख से सम्बन्ध रखने वाला होगा, उतनी ही उच्च श्रेणी का माना जायगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है। जहाँ धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखायी पड़ेगा वहाँ उत्कृष्ट पात्र के हृदय में भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं, क्योंकि अखिल विश्व की स्थिति उन्हीं से है; धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। जिसे राम प्रिय नहीं उसे धर्म प्रिय नहीं, इसी से गोस्वामी जी कहते हैं :

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
सो नर तजिअ कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही।

इस राम-विरोध या धर्म-विरोध का व्यापक दुष्परिणाम भी आगे आता है। राम-सीता के घर से निकलते ही सारी प्रजा शोकमग्न हो

जाती है, दशरथ प्राण-त्याग करते हैं। भरत कोई संसार-त्यागी विरक्त नहीं थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार और उस तिरस्कार का ऐसा कटु परिणाम देख कर भी क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिए उसे पी जाते। यदि वे अपनी माता को, माता होने के कारण, कटु वचन तक न कहते तो उनके राम-प्रेम का, उनके धर्म-प्रेम का, उनकी मनोवृत्तियों के बीच क्या स्थान दिखाई पड़ता? जो प्रिय का तिरस्कार और पीड़न देख क्षुब्ध न हो, उसके प्रेम का पता कहाँ लगाया जायगा? भरत धर्म-स्वरूप भगवान् रामचन्द्र के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में हमारे सामने रखे गये हैं। अतः काव्य-दृष्टि से भी यदि देखिए तो इस अमर्ष के द्वारा उनके राम-प्रेम की जो व्यंजना हुई है वह अपना एक विशेष लक्ष्य रखती है। महाकाव्य या खण्डकाव्य के भीतर जहाँ धर्म पर क्रूर और निष्ठुर आघात सामने आता है वहाँ श्रोता या पाठक का हृदय अन्यायी का उचित दण्ड—धिग्दण्ड के रूप में सही—देखने के लिए छटपटाता है। यदि कथावस्तु के भीतर उसे दण्ड देने वाला पात्र मिल जाता है तो पाठक या श्रोता की भावना तुष्ट हो जाती है। इसके लिए भरत से बढ़कर उपयुक्त और कौन पात्र हो सकता था? जिन भरत के लिए ही कैकेयी ने सारा अनर्थ खड़ा किया, वे ही जब उसे धिक्कारते हैं, तब कैकेयी को कितनी आत्मग्लानि हुई होगी! ऐसी आत्मग्लानि उत्पन्न करने की ओर भी कवि का लक्ष्य था। इस दरजे की आत्मग्लानि और किसी युक्ति से उत्पन्न नहीं की जा सकती थी।

सारांश यह है कि यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशील विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं। काव्य में तो प्रायः ऐसी अवहेलना से उत्पन्न क्षोभ की अबोध व्यंजना के लिए मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है।

अब विभीषण को लीजिए, जिसे गृहनीति या कुलधर्म की स्थूल और संकुचित दृष्टि से लोग 'घर का भेदिया' या भ्रातृद्रोही कह सकते हैं।

तुलसीदास जी ने उसे भगवद्भक्त के रूप में लिया है। उसे भक्तों की श्रेणी में दाखिल करते समय गोस्वामीजी की दृष्टि गृहनीति या कुलधर्म की संकुचित सीमा के भीतर बँधो न रहकर व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की ओर थी। धर्म की उच्च और व्यापक भावना के अनुसार विभीषण को भक्त का स्वरूप प्रदान किया गया है। रावण लोकपीड़क है, उसके अत्या-चार से तीनों लोक व्याकुल हैं, उनके अनुयायी अकारण लोगों को सताते हैं और ऋषियों-मुनियों का वध करते हैं। विभीषण इन सब बातों से अलग दिखाया गया है। वह रावण का भाई होकर भी लंका के एक कोने में साधु-जीवन व्यतीत करता है। उसके हृदय में अखिल लोकरक्षक भगवान् की भक्ति है।

सीताहरण होने पर रावण का अधर्म पराकाष्ठा को पहुँचा दिखायी पड़ता है। हनुमान से भेंट होने पर उसे धर्मस्वरूप भगवान् के अवतार हो जाने का आभास मिलता है। उसकी उच्च धर्म-भावना और भी जाग पड़ती है, वह अपने बड़े भाई रावण को समझाता है। जब वह किसी प्रकार नहीं मानता, तब उसके सामने दो धर्मों के पालन का सवाल आता है—एक ओर गृहधर्म या कुलधर्म पालन का, दूसरी ओर उससे अधिक उच्च और व्यापक धर्म के पालन का। भक्त की धर्मभावना अपने गृह या कुल के तंग घेरे के भीतर बद्ध नहीं रह सकती। वह समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य रख कर प्रवृत्त होती है। अतः वह चट लोक-कल्याण-विधायक धर्म का अवलम्बन करता है और धर्ममूर्ति भगवान् श्रीराम की शरण में जाता है।

गेहूँ बनाम गुलाब

रामवृक्ष बेनीपुरी

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूंघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस!

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये, क्या पीये? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाये उससे।

गेहूँ—उसकी भूख का काफिला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है! गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ!

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए!

बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है। शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दबा रखा है।

× × ×

किन्तु; चाहे कच्चा चरे या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर? मानव को मानव बनाया गुलाब ने! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी!

यही नहीं; जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थीं, टँकी थीं।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ। उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की बनायी तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा जा रहा था, तब उसके छप्-छप् में उसने ताल पाया, तराने छोड़े! बाँस से उसने लाठी ही नहीं बनायी, बंशी भी बजायी।

[रात का काला-घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी; बल्कि वह आनन्द-विभोर हुआ उषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैःशनै प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस-कणों से! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौन्दर्य-बोध ने उनके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया; इन्द्रधनुष ने उनके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रंगों में रंग दिया।]

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं हैं। जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की!

गेहूँ की आवश्यकता उसे है; किन्तु, उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की! उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

× × ×

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का समतुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा।

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गायें चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरें गड़ी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं!

किन्तु धीरे-धीरे वह समतुलन टूटा।

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़नेवाले, थकानेवाले, उबानेवाले, नारकीय यन्त्रणाएँ देनेवाले श्रम का—वह श्रम, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज का! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी!

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिये। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश!

वह परम्परा चली आ रही है! आज चारों ओर महाभारत है, गृहयुद्ध है—सर्वनाश है, महानाश है!

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में; गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालन-कर्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर!

× × ×

चलो पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम फिर एक बार समतुलन स्थापित करें!

किन्तु, मानव क्या पीछे मुड़ा है; मुड़ सकता है?

यह महायात्री चलता रहा है, चलता रहेगा!

और क्या नवीन समतुलन चिरस्थायी हो सकेगा ? क्या इतिहास फिर दुहराकर नहीं रहेगा ?

नहीं, मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर समतुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं !

अव गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे !

गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर-विजय। अब नये मानव की यह नयी आकांक्षा हो !

क्या यह सम्भव है ?

बिलकुल, सोलह आने सम्भव है !

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है। और उसने यह भी बता दिया है कि मानव में चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहूँत्व क्या है, हम जान गए हैं। यह गेहूँत्व उसमें आता कहाँ से है, हमसे यह भी छिपा नहीं है !

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्त्व एक विशेष-प्रक्रिया से पौधों की बालियों में संगृहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं ! उन्हीं तत्त्वों की कमी, हमारे शरीर में, भूख नाम पाती है।

क्यों पृथ्वी की जुताई, कुड़ाई, गुड़ाई ! हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्त्वों को सीधे क्यों नहीं ग्रहण करें ?

यह तो अनहोनी बात—युटोपिया, युटोपिया !

हाँ, यह अनहोनी बात, युटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक विज्ञान संहार-काण्ड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्योंही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी !

और; विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है !

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ा भी रहा है !

कम-से-कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुएँ—हवा, पानी की तरह—इफरात हो जायँ ! बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म, आदि तो निकलते ही जा रहे हैं, जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें।

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले साधनों की प्रचुरता—की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है।

× × ×

प्रचुरता ?—एक प्रश्न चिह्न !

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है ?

'हमारा सोने का हिन्दोस्तान'—यह गीत गाइये; किन्तु यह न भूलिये कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी !

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी, जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे; जो छह महीने सोती थी, जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी।

गेहूँ बड़ा प्रबल है—वह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शान्त कीजिये, तो वह वासनाओं की क्षुधा जागृत कर आपको बहुत दिनों तक तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आये, इसके लिए क्या उपाय ?

अपनी वृत्तियों को वश में करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियों के संयमन की ओर वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करने की !

संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आये हैं। किन्तु इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं—बड़े-बड़े तपस्वियों की लम्बी-लम्बी तपस्याएँ एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गयीं !

आज भी देखिये। गांधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलनेवाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं !

इसलिए उपाय एकमात्र है—वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करना !

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिये !

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाब की !

गेहूँ के बाद गुलाब—बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं।

× × ×

गेहूँ की दुनिया खत्म होने जा रही है—वह स्थूल दुनिया, जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छायी हुई है !

जो आर्थिक रूप में रक्त पीती रही, राजनीतिक रूप में रक्त की धारा बहाती रही !

अब वह दुनिया आनेवाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगे !

गुलाब की दुनिया—मानस का संसार—सांस्कृतिक जगत् !

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बसायेंगे !

जब गेहूँ से हमारा पिण्ड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे।

गुलाब की दुनिया—रंगों की दुनियाँ, सुगन्धों की दुनिया !

भौंरे नाच रहे, गूँज रहे; फुलसुँघनी फुदक रही, चहक रही !

नृत्य, गीत—आनन्द उछाह !

कहीं गन्दगी नहीं; कहीं कुरूपता नहीं ! आँगन में गुलाब; खेतों में गुलाब ! गालों पर गुलाब खिल रहे; आँखों में गुलाव झाँक रहा !

जब सारा मानव-जीवन रंगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा।

वह दिन कब आयेगा ?

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे ? कैसी आँखें हैं आपकी ! शायद उन पर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइये और देखिये वह अलौकिक, स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही।

शौके दीदार अगर है, तो नजर पैदा कर !

•

जीवेम शरदः शतम्

हजारीप्रसाद द्विवेदी

इस लेख का नाम संस्कृत में दिया गया है। यह इसलिए किया गया है कि हमारे पाठक शुरू में ही समझ लें कि यह प्रार्थना नयी नहीं है, बहुत पुरानी है। नित्य ही धार्मिक हिन्दू अपनी सन्ध्या-पूजा के समय भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह अदीन होकर सौ वर्ष तक जीता रहे। केवल जीने की प्रार्थना नहीं की गयी है। कार्य करने की शक्ति शिथिल हो गयी हो, विचार-विवेक का सामर्थ्य जाता रहा हो, दूसरों का मुहताज बन कर ही जीवित रहना पड़े तो इस जीवन से क्या लाभ? इसीलिए उपनिषद् में स्पष्ट रूप के कहा गया है—'कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा रखे'—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। इस वाक्य का अर्थ यह नहीं हो सकता कि जो जी में आये वही कर्म करता हुआ मनुष्य जीवन-यापन करे। यह जीवन मनुष्य के उत्तम लक्ष्यों के अनुकूल होना चाहिये। ऐसा कर्म जो दूसरों के लिए कष्टदायक हो, समाज के यथार्थ मंगल का बाधक और मनुष्यता के प्रतिकूल हो, कभी शास्त्र द्वारा समर्थित नहीं हो सकता। इसलिए कर्म तो ऐसा ही होना चाहिए जो मनुष्य-जीवन के उच्चतर लक्ष्य के अनुकूल हो। साथ ही उसमें दैन्य का भाव नहीं आना चाहिये। दीनता उस मानसिक दुर्बलता को कहते हैं जो मनुष्य को दूसरे की दया पर जीने का प्रलोभन देती है, जो मुहताज बनकर किसी की कृपा प्राप्त करने को सुविधाजनक मार्ग समझती है। भारतवर्ष के श्रेष्ठ वीर अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं—दैन्य न दिखाना और भागना नहीं। वीरत्व के यही दो नाभि-केन्द्र हैं—अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम् दैन्य और पलायन मनुष्य के

कर्ममय जीवन के विरुद्ध जाते हैं। वीरतापूर्ण मन से धर्मानुकूल कर्म करते हुए मनुष्य को १०० वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए।

भारतवर्ष नित्य ही इस प्रकार प्रार्थना करता रहा। पर उसकी प्रार्थना फलवती नहीं हुई है। साधारण जनता धर्मानुकूल कार्य करते-करते सौ वर्ष जीने की अभिलाषा मन में चाहे पोषण करती हो, पर वह न तो दैन्य से मुक्त हो सकी है, न कर्म के प्रति उत्साह ही जिलाये रख सकी है, और न सौ या सवा सौ वर्ष की औसत आयु ही पा सकी है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता में भारतीय किसान को देखकर कहा है—"यह जो खड़ा है, सिर झुकाये, मुँह बन्द किये—जिसके म्लान मुख पर १००–१०० शताब्दियों की वेदना की करुण कहानी लिखी हुई है; कन्धे पर जितना भी बोझ लाद दो मन्दगति से तब तक ढोता जाता है जब तक उसमें प्राण बचे रहते हैं। इसके बाद सन्तान को दे जाता है वह बोझा। पीढ़ियों तक यही क्रम चलता है। (अदृष्ट को दोष नहीं देता, देवता को स्मरण करता है। परनिन्दा नहीं करता, किसी मनुष्य को भी दोष नहीं देता, मान-अभिमान करना जानता ही नहीं। सिर्फ अन्न के दो दाने खोंट कर किसी प्रकार अपने कष्टक्लिष्ट प्राणों को जिलाये रखता है। वह अन्न जब कोई छीनने लगता है; उस थके-थकाये प्राण को भी जब गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचार चोट पहुँचाता है, तो वह नहीं जानता कि न्याय पाने की आशा से वह किसके द्वार पर जाय। केवल दरिद्रों के भगवान को उसाँसें भर कर एक बार पुकारता है और चुपचाप मर जाता है।") रवीन्द्रनाथ ने कविजनोचित भाषा में इस अत्यन्त दयनीय दशा का जो मर्मभेदक चित्र खींचा है वह सत्य है। क्यों ऐसा हुआ ? जिस देश के मनीषियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व से वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते हुए १०० वर्ष तक जीवित रहने का पुनीत संकल्प घोषित किया, उनके उत्तराधिकारी आज इस हीन अवस्था को कैसे पहुँच गये ? इतना महान संकल्प और उसकी ऐसी मर्म-विदारक अवस्था ? इन दोनों का सामञ्जस्य कहाँ ?

बात यह है कि केवल प्रार्थना या संकल्प महान होने से ही काम नहीं बनता। उस संकल्प के पीछे दृढ़ कर्मशक्ति चाहिए। यदि हम केवल बड़ी इच्छाएँ ही मन में पोसते रहें तो उससे कुछ बड़ी सिद्धि नहीं मिल जायगी। संस्कृत के पुराने सुभाषित में कहा गया कि सोये सिंह के मुँह में मृग स्वयं नहीं घुस जाया करते, इसके लिए उसे हाथ-पैर मारना होता है, घात लगाये रहना पड़ता है, जुगत बाँधनी होती है। सिंह की इच्छा भी बड़ी हो सकती है, उसमें पराक्रम की मात्रा भी बहुत हो सकती है, पर हाथ-पैर तो हिलाना ही होगा।

केवल संकल्प से काम नहीं चलता, उस संकल्प के अनुसार प्रयत्न भी चाहिए। दाम सबका चुकाना पड़ता है। बड़ी वस्तु का दाम भी बड़ा होता है। और वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते सौ वर्ष तक अदीन जीवन निस्सन्देह बहुत बड़ी वस्तु है। उसे पाने के लिए उतना ही महान त्याग और तप आवश्यक है। दुनिया में बड़ी-बड़ी बातों की महिमा किससे छिपी है? कौन नहीं जानता तप बड़ी चीज है, त्याग बड़ी वस्तु है, ब्रह्मचर्य अच्छी चीज है। यह भी नहीं कि लोग यह नहीं चाहते कि उनमें यह गुण आ जायँ। सब चाहते हैं कि लोग उन्हें त्यागी, तपी और विवेकी समझें, पर कोई ऐसी बड़ी बाधा हमारा रास्ता रोक लेती है, हम कुछ कर ही नहीं पाते। भागवत में प्रह्लाद ने भगवान् से कहा था कि "हे भगवान्, मौनव्रत, शास्त्रज्ञान, अध्ययन, धर्माचरण, तप, समाधि और मुक्तितत्व ये सारी बातें उन लोगों के लिए केवल बहस की चीज बन जाती हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रिय को वश में नहीं कर लिया।"

यह ठीक है। जो अपने समस्त इन्द्रिय-समूह को वश में नहीं कर लेता उस असंयमी पुरुष या स्त्री के सब बड़े संकल्प उसी प्रकार व्यर्थ होते हैं जिस प्रकार फूटे बर्तन में पानी सुरक्षित रखने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसलिए किसी भी महान् संकल्प के लिए दृढ़ संयम और निष्ठा सबसे पहली शर्त है। सौ वर्ष तक जीवित रहने के महान् संकल्प

के लिए दृढ़ संयम आवश्यक है। (जितेन्द्रियता चरित्रबल की कुञ्जी है।) वस्तुतः आजकल जिसे चरित्रबल कहा जाने लगा है उसे ही पुराना भारतवासी जितेन्द्रियता कहता था। अपने आदर्शों के प्रति अविचल निष्ठा इसी गुण से आती है। महाभारत में कहा है कि कामवश, भयवश, लोभवश यहाँ तक कि प्राण के लिए भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

यह अविचल निष्ठा तभी सम्भव है जब मनुष्य की अपनी इन्द्रियाँ अपने वश में हों। यह गुण अभ्यास से प्राप्त होता है। दुर्भाग्यवश हमारे देश के शिक्षितों में भी इस गुण का अभाव बढ़ता जा रहा है। जितना भ्रष्टाचार इस समय देश में फैला हुआ है उतना शायद ही कभी रहा हो। प्रह्लाद ने जो कहा था कि अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिए सब बड़ी-बड़ी बातें केवल बहस की बातें रह जाती हैं उसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा शिक्षित वर्ग है। आप घण्टों सत्य और अहिंसा पर, धर्म और संस्कृति पर नित्य व्याख्यान सुन सकते हैं, समाचार-पत्रों में साहस और निष्ठा पर लेख पढ़ सकते हैं, पर, "कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न सा मतिः।" हमारे देश की सामूहिक समस्या इस समय चरित्रगत कमजोरी है। नीचे से ऊपर तक लाभ और भय का बीभत्स नृत्य देखकर हृदय काँप उठता है। चरित्र बल न रहे, तो आदमी अपने संकल्प का अर्थ भी नहीं समझना चाहता। (जो व्यक्ति यह प्रार्थना करे कि मैं दैन्यहीन होकर सौ वर्ष जीवन व्यतीत करूँ उसमें निस्सन्देह स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक होगी। अब कोई स्वाभिमानी आदमी, जो स्वयं दीनता-प्रकाशन को मनुष्य-जीवन का अभिशाप समझता हो, दूसरे को दीन बना कैसे सकता है? यदि हम शुद्ध चित्त से अपनी इस महती प्रार्थना के मर्मार्थ पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि जिस ऋषि ने इस महान् संकल्प को नित्य दुहराने की व्यवस्था की थी उसने यह भी सोचा था कि जो लोग ऐसी प्रार्थना

करेंगे वे दूसरे को दीन नहीं बनायेंगे। शोषण और परपीड़न के पाप की ओर उनकी दृष्टि नहीं जायगी।

पर हुआ उल्टा। लोग प्रार्थना भी करते रहे और शोषण भी और परपीड़न का चक्का भी चलता रहा। प्रार्थना अपने रास्ते चलती गयी और दुनिया का व्यवहार अपने रास्ते चलता गया। और अब यह व्यवस्था हो गयी कि हमारे इस मौखिक संकल्प का कोई मूल्य नहीं रहा। हमारे देश की औसत आयु घटते-घटते अब बीस वर्ष के आस-पास रह गयी है। विचार करने पर मन क्षोभ से भर जाता है। इतने बड़े संकल्प की क्या यही गति होनी चाहिए थी ? पर क्षोभ चाहे जितना ही हो, वस्तु-स्थिति यही है। बड़ी बातों से हम अपने दोषों को नहीं ढँक सकते। हमें सच्चाई–अनावृत सच्चाई–का साहसपूर्वक सामना करना चाहिए। जिस प्रकार भी हो, हमें अपने नैतिक धरातल को ऊपर उठाना ही पड़ेगा। भारतवर्ष को अगर सम्मानपूर्वक जीवित रहना है तो उसे अपने काले धब्बों को धो देना पड़ेगा। गाल के जोर से दीवाल नहीं ढहती, निहुरे-निहुरे ऊँट नहीं चुराया जाता। चारों ओर भीतर और बाहर के शत्रु हमारी ओर आँख लगाये हुए हैं, दूसरे निश्चिन्त होना चाहें तो हो लें, हम निश्चिन्त नहीं हो सकते।

इस यन्त्रयुग में समूह की शक्ति बढ़ी है। हमें कोई ऐसी व्यवस्था सोचनी पड़ेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जरूरत भर अन्न-वस्त्र मिल जाय और उसे जितने की जरूरत है उससे अधिक संग्रह करने का अवसर ही न मिले। जब सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था हो जायगी तभी ये छोटी चीजें बड़ी-बड़ी बातों से मनुष्य का ध्यान हटाकर अपनी ओर खींच नहीं सकेंगी। हमें उन बातों को समाज में ठहरने ही नहीं देना चाहिए जो औसत व्यक्ति की चरित्रशक्ति को हीन और दुर्बल बनाती हैं। अब हमारी साधना केवल उपदेश तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, हमें सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मनुष्य की लोभ-मोह की ओर खींचनेवाली शक्तियाँ क्षीणबल हो जायँ।

कहने का मतलब यह कि इन दिनों केवल व्यक्ति को लोभ-मोह से विरत होने का उपदेश ही काफी है। (लोभ-मोह को प्रश्रय देनेवाली शक्तियों को हो निःशक्त कर देने की आवश्यकता है। आज जब हम सामूहिक शिक्षा, सामूहिक सुरक्षा आदि की ओर अग्रसर होने को बाध्य हो गये हैं, तो हमें सामूहिक रूप से जनता के चरित्रबल को सुरक्षित करने की व्यवस्था भी प्रयत्नपूर्वक करनी होगी।)

जब हमारी सम्पूर्ण जनता साहसपूर्वक धर्मानुकूल कार्य करती हुई सौ वर्ष का जीवन पाने की इच्छा करेगी और उसके चरित्रबल को दुर्बल बनानेवाली सामाजिक शक्तियाँ क्षीण हो जायँगी तब हमारा नैतिक धरातल ऊँचा होगा। तभी समग्र देश का मंगल होगा और हमारे देश-वासी न केवल स्वयं कर्ममय जीवन यापन करेंगे, वे सारे जगत् को इस प्रकार के जीवन की ओर उद्बुद्ध करेंगे। इसी वैदिक ऋषि की सिखायी हुई वह प्रार्थना फलवती होगी :—

ओऽम् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः।
स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

—य० अ० ३६। मं० २४

[हे सूर्यवत् प्रकाशक परमेश्वर, आप विद्वानों के हितकारी, शुद्ध, नेत्रतुल्य, सबके दिखानेवाले, अनादिकाल से अच्छी तरह सबके ज्ञाता हैं, उस आपको हम सौ वर्ष तक ज्ञान द्वारा देखें और आपकी कृपा से सौ वर्ष तक जीवें। सौ वर्ष तक सच्छास्त्रों को सुनें। सौ वर्ष पर्यन्त पढ़ावें वा उपदेश करें और सौ वर्ष तक दीनतारहित हों और सौ वर्ष से भी अधिक (देखें, जीवें, सुनें और अदीन रहें।)]

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः!

अपूर्ण

सियारामशरण गुप्त

वसन्त का आगमन अभी हाल में ही हुआ है। बहुत-सी बातों के कारण घर में उसको दो घड़ी बात कर लेने का भी समय नहीं मिलता। इसके लिए वन और खेत का एकान्त चाहिए। इसी कारण आज का काम कल कर लेने की मूर्खतापूर्ण बात सोचकर भी आज सन्ध्या समय कुछ जल्दी घूमने के लिए बाहर निकल आया हूँ।

वृक्षों में नई-नई कोपलें आ गई हैं। आम ने बौरकर अपने भीतर की खटाई और कसैलेपन को भी मधुर कर दिया है। नये जीवन की उष्णता पाकर हवा भी कुछ और की और हो गई है। कदाचित् कोइल भी कूकने लगी हैं, परन्तु अभी तक मैं उसे सुन नहीं सका। सुन कैसे सकूँ, पहले-पहल किसी कवि-सखा के कान में ही वह अपना अमृत ढालेगी।

कुछ हो, किसी तरह कवि बनने की इच्छा तो आज मेरी भी है। कम से कम काम मैं कवि का ही कर रहा हूँ। पक्की सड़क की मोटी 'लीक' छोड़कर घूमने के लिए मैं खेतों की ओर मुड़ गया हूँ। मैंने यह विचार नहीं किया कि यह रास्ता ऊँचा-नीचा, चौड़ा-सँकरा, टेढ़ा-मेढ़ा, और जहाँ-तहाँ झाड़-झंखाड़ और काँटों से भरा होने के कारण मुझ जैसे जन के चलने योग्य नहीं है।

साँझ के मटमैलेपन के ऊपर सप्तमी के अर्द्धचन्द्र का प्रकाश स्पष्ट हो उठा। स्पष्ट उतना ही जितना यह हैं। सोचा था; खेतों की हरियाली से ही मैं आज अपने को तृप्त करूँगा; चाँदनी का रस लेने के लिए मुझे पूर्णिमा की प्रतीक्षा करनी होगी। परन्तु मेरा मन अब यह कुछ नहीं सुनना चाहता। एकाएक भीतर के भीतर तक वह पुलकित हो उठा है।

पक्के व्यवसायी की भाँति तेरह के उधार का लोभ छोड़कर उसने नौ का ही यह नगद सौदा तत्काल पक्का कर लिया है।

यह पूरा विकसित नहीं है तो क्या हुआ, इस अधूरे के भीतर भी उस पूरे का ही प्रकाश है! अधूरे और अधखिले में भी अपना कुछ स्वाद है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जिन नववयस्कों की रसना और दन्तपंक्ति में बुढ़ापे का कोट नहीं लग गया, इन्हें कच्चे आम में भी पके रसाल की अपेक्षा अधिक रस मिलता है। इस विषय में मेरा निजी अनुभव भी ऐसा ही है। बहुत पहले इन्हीं दिनों एक बार मैंने लगातार तीन-चार महीने खटिया पर रोग का सेवन किया था। लेटे-लेटे उस समय मैं प्रायः यही प्रश्न किया करता था कि मेरे अच्छे होने तक अमियों की फसल तो रहेगी? मेरे सिरहाने बैठकर इस सम्बन्ध में अन्यथा आश्वस्त करके भी जिसने मुझे उस समय प्रसन्न कर रक्खा था, उसे साक्षी के रूप में पाठक के सामने उपस्थित कर सकने में आज मैं असमर्थ हूँ। फिर भी उस आनन्द की स्मृति चिरस्मरणीय होकर मेरे साथ है। उस समय मुझमें रसबोध नहीं था, यह मैं स्वीकार नहीं करना चाहता। आनन्द देवता के उदार हाथों से जब जो मिले, उसी से सन्तुष्ट हो सकने में भी हमारा गौरव है। नहीं तो हमसे और सिर फाड़कर धरना देनेवाले मंगतों में अन्तर ही क्या रहा? इस अर्द्धचन्द्र का पूरा-का-पूरा वैभव छीनकर, हमने इसे कल के लिए कंगाल नहीं कर दिया, इससे बढ़कर दूसरा आनन्द हमारे लिए हो नहीं सकता। वर्ष के प्रारम्भ में ही न जाने कब से मधुमास हमें आधा ही मिलता आ रहा है कदाचित् ऐसा इसलिए कि उसके मधु-भंडार की अक्षयता में हमारा विश्वास बना रहे और, इस प्रकार हमारा यह वर्ष ऊपर से नीचे तक पूरा का पूरा मधुमिश्रित हो गया है, इसका कहना ही क्या?

आश्चर्य की बात है कि इतने सुन्दर इस अर्द्धचन्द्र की उपेक्षा हमारे कवियों ने क्यों की? मुझे याद नहीं पड़ता कि इसे देखकर उन्होंने कभी

अपना उल्लास प्रकट किया हो। कहने को कहते वे यही हैं कि 'सब उधरे सोहें नहीं कवि आखर'—इत्यादि। चाहते तो इस सूची में वे इस प्रेयस् चन्द्र को भी शामिल कर सकते थे। परन्तु न जाने वे क्यों इसे पूरा ही देखना चाहते हैं, भले ही इसके लिए उन्हें अपना सिद्धान्त बदल देना पड़े। वे जानते हैं कि इस वास्तविक जगत् में 'नित प्रति पूनो ही' नहीं रह सकती : पूनों का संगीत सुनने के लिए तीस दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस तीसवें दिन भी राहु-केतु, बिजली और बादल की कड़क आदि न जानें कितनी-कितनी बाधाएँ हैं। हालत उनकी, उनके कहने के ही अनुसार ऐसी है कि बस अब या तब। फिर भी न तो उनकी प्रेयसी पूरे चन्द्रमा को देखे बिना अधीर हो सकती है और न वे स्वयं भी आँसू बरसा सकते हैं। कवियों की देखा-देखी हमारे समालोचकों का हाल भी ऐसा ही है। उन्हें भी पूरा ही पूरा चाहिए। उस पूरे में भी देखने को यद्यपि वे कलंक ही देखेंगे, परन्तु इस अधूरे के लिए तो उन्हें इतना कष्ट भी स्वीकार न होगा। जो हो, कवि और समालोचक को देखने का समय मुझे नहीं है। आज मैं इस अर्द्धचन्द्र का आनन्द नहीं छोड़ना चाहता। कबीर ने उपदेश दिया है कि जो कल करना चाहते हो, उसे आज करो; और आज के करने का जो काम है उसे अभी, इसी समय। तुरन्त दान, महा कल्याण! इस संसार में प्रत्येक पल प्रलयशील है; उसका बनना-बिगड़ना हम किसी भी क्षण देख सकते हैं। मैं नहीं चाहता कि पूनों के चन्द्र को देखने के लिए चौबीस घण्टे के कितने ही दिन-रात आँखें मूँदकर बैठ रहूँ। 'मैं बैठा रहना चाहूँ' तब भी यह बात होने को नहीं दिखाई देती। फिर भी किसी कवि अथवा समालोचक के कहने से मैं आज का यह आनन्द अन्य कितने ही कलों के लिए क्यों छोड़ दूँ? आज के आनन्द का उपयोग आज करूँगा, और कल-परसों का क्रम बीच में ही भंग नहीं हो गया तो मैंने कुछ ऐसी शपथ नहीं ले रक्खी है कि फिर मैं आँखें खोलूँगा नहीं।

मैं समझता हूँ, सप्तमी नहीं, तो वसन्त की द्वादशी ही वह होगी, जिस दिन वाल्मीकि ने करुणा के खारे जल से अपनी भी दोनों आँखों का कीच धोकर पहले-पहल रामचन्द्र का दर्शन किया। इस अवतार में भगवान् की द्वादश ही कलाएँ हैं न? मैं मान लेता हूँ, द्वादश नहीं और कम थी। परन्तु क्या कभी मैं यह भी मान ले सकता हूँ कि उनकी यह अपूर्णता अग्राह्य है? इस अपूर्णता को लेकर आज के इस घोर युद्ध में भी हम सतयुग के, अच्छा सतयुग नहीं तो त्रेता के, उस साकेत-धाम में विहार करने लगते हैं, जिसे बड़े से बड़ा पुरातत्वदर्शी बाहर से झाँककर देख तक नहीं सकता। कुछ क्यों न हो, आज मैं किसी के भी बहकावे में किसी तरह नहीं पड़ना चाहता।

अच्छा हाँ, कृष्णचन्द्र षोडशकलावतार थे। यह ठीक है। ऐसा होने पर भी, किन्तु, यह भुला देना ठीक नहीं है कि इस पूर्णचन्द्र के साथ कृष्ण जुड़ा हुआ है, शुक्ल नहीं। महत्व वही है, जहाँ अन्धकार में प्रकाश हो। विधाता ने केवल अन्धकार अथवा केवल प्रकाश की ही सृष्टि की होती तो उसकी बहुमुखी प्रतिभा का मूल्य बहुत निम्नकोटि के कलाकार जितना भी न रहता।

ज्ञान अथवा अज्ञान के विषय में भी यही बात है। मन्त्रद्रष्ट ऋषि 'नेति-नेति' कहकर जब आगे का अपना अज्ञान स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं, तभी यह बात हमारे मन में जगती है कि कहीं ज्ञान है तो यहाँ, केवल इनके पास। परम ज्ञानियों और महात्माओं की सेवा और सत्संग में रहकर भी मनुष्य को शांति मिलती होगी, परन्तु उस आनन्द की तुलना दूसरी जगह नहीं पाई जा सकती, जिसे कोई अबोध शिशु अनायास एक घड़ी के भीतर दे देता है। हमारे साहित्य के सूर्य और चन्द्र का अनुभव भी इस विषय में ऐसा ही है। ज्ञान के प्रवीण उद्धव की बात इनमें से एक ने सुन तो ली, परन्तु मन उनका वहीं लगा है, जहाँ उनका उपास्य बाल रूप में—

"शोभित कर नवनीत लिए,
घुटरुन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए।"

दूसरे घर-बार त्यागी साधु का हाल भी ऐसा ही है—

"घुघराली लटें लटकें मुख ऊपर कुण्डल लोल कपोलन की,
निवछावर प्रान करै तुलसी, बलि जाऊँ लला इन बोलन की।"

बात यह है कि ऊपर से मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न प्रतीत होता रहे, उनका भीतरी मन जानता है कि वस्तुतः एक अस्फुट शिशु से ज्ञान में वह किसी भी भाँति अधिक नहीं। इसी से जब उनकी मण्डली में वह पहुँच जाय, तब मानो समवयस्कों की शैली और संगति पाकर उनका भीतर-बाहर एकदम खिल पड़ता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि ऐसा बालगोपाल तो उसे अपने घर में ही मिल सकता था। इसके लिए हाथ में कमण्डलु लेकर और शरीर में भभूत रमाकर इतना भटकने की आवश्यकता उसे न थी। आज यह अपूर्ण, यह अविकच मुझे अनायास मिल गया है। आगे आनेवाली किसी पूर्ण की लालसा में आज का यह आनन्द छोड़ देने की मूर्खता मैं नहीं करूँगा।

मेरे ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर सप्तमी के चन्द्र की यह चाँदनी छिटकी पड़ी है। ऊपर से नीचे तक हलके वसन्ती रङ्ग की होली खेलकर इसने मुझे सराबोर कर दिया। मेरे चारों ओर गेहूँ, चना, अलसी और सरसों के हरे-हरे खेत हैं। पककर अभी पूरे नहीं हुए, इससे ये भी मेरे मन के साथ ठीक मेल खा जाते हैं। सन्ध्या समय वायु के हिलकोरों के साथ जो शोभा इनकी थी, इस धुँधली चाँदनी में अब वह दिखाई नहीं पड़ती। फिर भी इसके लिए मुझे शिकायत नहीं है। यहाँ मैंने बहुत कुछ देख-सुन लिया। अपरिहार्य होकर मेरे भीतर जो अस्पष्टता, जो अवगुण, जो त्रुटि, जो अपूर्णता, निवास कर रही हैं, उसके लिए आज मैं अपने को धिक्कारूँगा नहीं। वृक्षों के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर

मैं देखता हूँ कि छाया और प्रकाश के छोटे-छोटे बच्चे यहाँ एक-दूसरे से हिल-मिल कर खेल रहे हैं। वसन्त का भीना-भीना पवन वृक्ष के पल्लवों को गुदगुदाता है और छाया और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट-पोट होकर गिर-गिर पड़ते हैं एक दूसरे के ऊपर। एक-दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक दूसरे के लिए 'अब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य' का चीत्कार नहीं करते। इस झुरमुट के बाहर खुले में भी कुछ ऐसा ही है। इस धुँधली चाँदनी में अप्रकट और प्रकट को एकरस देखकर मैंने भरत-मिलाप का नया दृश्य देख लिया। एक ही माँ के दो यमज लालों की भाँति ये एक दूसरे को भेंटते हुए छाती से छाती मिलाकर आपस में मिल गए हैं। इनमें कौन प्रकाश है और कौन अन्धकार, इसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिरन्तन द्वन्द्व मिट चुका है, दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं। अपूर्ण और पूर्ण, दुःख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं, इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया।

वसन्त का कोई सन्देश सुनने के लिए मैं घर से निकला था। कह नहीं सकता, कितना उसने अपने में छिपा रक्खा और कितना मुझे दिया। कुछ हो जितना मुझे मिल गया है, वह भी मेरे लिए कम नहीं।

चीनी भाई

महादेवी वर्मा

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही साँचे में ढले-से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करने वाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़न जैसी नाक की गठन में भी विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। कुछ तिरछी, अधखुली और विरल भूरी बरुनियों वाली आँखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीर कर बनाई गई हैं। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण-चिह्नों पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछौंहें सूखे पत्ते की समानता पा लेता है। आकार-प्रकार, वेश-भूषा सब मिलकर इन दूर-देशियों को यन्त्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं, इसी से अनेक बार देखने पर भी एक फेरीवाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एक रूप समष्टि में मुझे एक मुख आर्द्र नीलिमामयी आँखों के साथ स्मरण आता है जिनकी मौन भंगिमा कहती है—हम कार्बन की कापियाँ नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के सम्बन्ध में तुम्हारी आँखें निरक्षर नहीं तो तुम पढ़कर देखो न।

कई वर्ष पहले की बात है। मैं ताँगे से उतर कर भीतर आ रही थी और भूरे कपड़े का गट्ठर बायें कन्धे के सहारे पीठ पर लटकाये

हुए और दाहिने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था। सम्भवतः मेरे घर को बन्द पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेम साब'—दुर्भाग्य का मारा चीनी। उसे क्या पता कि यह सम्बोधन मेरे मन में रोष की सबसे तुंग तरंग उठा देता है। मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने सम्बोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर यह विजातीय सम्बोधन मानो सारा परिचय छीनकर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है। इस सम्बोधन के उपरान्त मेरे पास से निराश होकर न लौटना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया 'मैं विदेशी—फॉरेन—नहीं खरीदती।' 'हम फॉरेन है? हम तो चाइना से आता है' कहने वाले के कण्ठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुककर, उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पैजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढँके, दाढ़ी-मूँछ विहीन, दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशीय को चोट पहुँची यह सोचकर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया 'मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई!' चीनी भी विचित्र निकला 'हमको भाय बोला है तब जरूल लेगा, जरूल लेगा—हाँ?' होम करते हाथ जला वाली कहावत हो गई—विवश हो कहना पड़ा 'देखूँ तुम्हारे पास है क्या? चीनी बरामदे में कपड़े का गट्ठर उतारता हुआ कह चला 'भोत अच्छा सिल्क लाता

है सिस्तर ! चाइना सिल्क, क्रेप,.....'बहुत कहने-सुनने के उपरान्त दो मेजपोश खरीदना आवश्यक हो गया। सोचा चलो छुट्टी हुई। इतनी कम विक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पन्द्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठकर गज को फर्श पर बजा-बजाकर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा—'अब तो मैं कुछ न लूँगी। समझे ?' चीनी खड़ा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला 'सिस्तर का वास्ते हैं की लाता है—भो़त बेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेत में छिपा के लाता है।'

देखा कुछ रूमाल थे। ऊदी रंग के डोर से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हें फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी, चीनी नारी की कोमल उँगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर कर रही थी जीवन के अभाव की करुण कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आँखों को जल्दी-जल्दी बन्द करते और खोलते हुए वह एक साँस में 'सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है', दोहराने-तिहराने लगा।

मन में सोचा अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कह कर चिढ़ाया करते थे। सन्देह होने लगा उस चिढ़ाने में कोई तत्त्व भी रहा होगा। अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहिन का सम्बन्ध क्यों जोड़ने आता ! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहाँ जब-तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के सम्बन्ध में विशेष अभिरुचि रखता है इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल-पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आँखों पर पट्टी बाँध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहाँ की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा हुआ न हो। चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही सिस्तर का वास्ते हम चलेगा।' कहते-कहते चीनी की आँखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था पर कहने-सुनने वाले के बीच की खाईं बहुत गहरी थी। उसे चीनो और बर्मी भाषाएँ आती थीं जिनके सम्बन्ध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ मैं 'आँखों के अन्धे नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञाएँ और हिन्दुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी उसमें कथा का सारा मर्म बँध नहीं पाता था पर जो कथाएँ हृदय का बाँध तोड़कर, दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं, वे प्रायः करुण होती हैं और और करुण की भाषा शब्दहीन रह कर भी बोलने में समर्थ है। चीनी फेरीवाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता-पिता ने मांडले आकर चाय की छोटी दुकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहिन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी उस अनदेखी माँ के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

सम्भवतः माँ ही ऐसा प्राणी है जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है जैसे उसके सम्बन्ध में कुछ जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बाँधनेवाला विधाता माँ ही है, इसी से उसे न मानकर संसार को न मानना सहज है पर संसार को मान कर उसे न मानना असम्भव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया तब उन मातृहीनों की यातना की कठोर कहानी आरम्भ हुई। दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका क्योंकि उसके पाँचवें वर्ष में पैर रखते-न-रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया, पर बहिन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ़ रहा था वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को कष्ट देकर भी चुकाया जाता था। अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहिन की कम्पित उँगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आँसुओं से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी-सी गोद में सिमट कर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सबेरे, आँख मूँदकर बन्द द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहिन की ओर से गीले बालों में, अपनी ठिठुरी हुई उँगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहिन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आनेवाले आँसू की बड़ी बूँद देखकर वह घबरा-कर बोल उठा था—उसे कहवा नहीं चाहिए वह तो पिता को देखना भर चाहता था।

कई बार पड़ोसियों के यहाँ रकाबियाँ धोकर और काम के बदले भात माँगकर बहिन ने भाई को खिलाया था।

व्यथा की कौन-सी अन्तिम मात्रा ने बहिन के नन्हें हृदय का बाँध तोड़ डाला, इसे अबोध बालक क्या जाने। पर एक रात उसने बिछौने पर लेट कर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह मैली-कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे होठों पर विमाता की मोटी उँगली ने दौड़-दौड़-कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूमकर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेर कर सँवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई!

बालक का विस्मय भय में वदल गया और भय ने रोने में शरण पाई—कब वह रोते-रोते सो गया इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा तो बहिन उस गठरी बने हुए भाई के मस्तक पर मुख रखकर सिसकियाँ रोक रही थी। उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े, तीसरे दिन खिलौने—पर बहिन के दिनों-दिन विवर्ण होने वाले ओठों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़ने वाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा।

बहिन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था, पर वह किससे कहे, क्या करे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी। बार-बार सोचता था कि पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता। उसके स्मृतिपट पर माँ की कोई रेखा नहीं, परन्तु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था उससे उनके स्नेहशील होने में सन्देह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुँच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा—तब यह विमाता कितनी डर जायगी और बहिन कितनी प्रसन्न होगी!

चाय की दूकान का मालिक अब दूसरा था, परन्तु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसी से बालक एक कोने में सिकुड़ कर खड़ा हो गया और आनेवालों से हकला-हकला कर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये, पर दो-एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही जिससे वह बालक को हाथ पकड़कर बाहर ही नहीं छोड़ आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दण्ड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अन्त हुआ।

बहिन का सन्ध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीरवाली विमाता की जंगली बिल्ली की तरह हल्के पैरों से बिछौने से उछल कर उतर आना, बहिन के शिथिल हाथों से बटुये का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों-के-त्यों चलते रहे।

पर एक दिन बहिन लौटी ही नहीं। सबेरे विमाता को कुछ चिन्तित-भाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहिन—उसकी एकमात्र आधार बहिन। पिता का पता न पा सका और बहिन भी खो गई। वह जैसा था वैसा ही बहिन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा। रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती थी उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था, इसी से वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाता देखता उसी के पास पहुँचने के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकरा कर गिरते-गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता—क्या इतना जरा-सा लड़का भी पागल हो गया है ?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा

और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरम्भ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरो से बैठना, गर्दन ऊँची कर खड़ा होना, मुँह पर पंजे रखकर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं उसी प्रकार वे सब उसे तम्बाकू के धुएँ और दुर्गन्धित साँस से भरे और फटे चिथड़े, टूटे बरतन और मैले शरीरों से बसे हुए कमरे में बन्द कर कुछ विशेष संकेतों और हँसने-रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हँसने-रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार-भूल करता और मार खाता। पर क्रन्दन उसके भीतर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि जरा मुँह बनाते ही दोनों आँखों से दो गोल-गोल बूँदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानान्तर रेखा बनाती और मुँह के दोनों सिरों को छूती हुई ठुड्ढी के नीचे तक चली जाती। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझकर, रोओं से काले उदर पर पीला-सा रंग बाँधनेवाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछलकर उसे एक लात जमा कर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी, स्यामी आदि का सम्मिश्रण था इसी से 'चोरों की बारात में अपनी-अपनी होशियारी' के सिद्धान्त का पालन बड़ी सतर्कता से हुआ करता। जो उस पर कृपा रखते थे उनके विरोधियों का सन्देहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्त्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर सन्देह की ऐसी दृष्टि आरम्भ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान काँपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी उसका स्मरण करके चीनी की आँखें आज भी व्यथा और अपमान से धक-धक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े-मेढ़े बरतन में, सिगार से जगह-जगह जले हुए कागज से ढँक कर रख दिया जाता था जिसे वह हरी आँखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गये तक उसके नरक के साथी एक-एक करके आते रहते और अँगीठी के पास सिकुड़ कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरों को जल्दी-जल्दी रखता हुआ आता है उसे बहुत कुछ मिल गया है, जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता है वह खाली है, जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता हैं वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है, जो देहली से ठोकर खाकर धम-धम पैर रखता हुआ घुसता है उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है, आदि का ज्ञान उसे अनजान में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षान्त संस्कार के उपरान्त विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अन्त होता, यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बाँधते-बाँधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज से इस तरह नापना कि जौ बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंगुल भर पीछे रह जाय, रुपये से लेकर पाई तक को खूब देख-भाल कर लेना और लौटते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका-खनका कर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था होने से अँगीठी के पास

ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से सम्बन्ध रखनेवाली सभी विद्याएँ एक-सी हैं, पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपा कर।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहिन को ढूँढ़ने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं। कभी वे निराश होकर आत्महत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी सम्भवतः पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गई थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बन्द हो गया।

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला। यहाँ शहर में एक चीनी जूते वाले के घर ठहरा है और सबेरे आठ से बारह और दो से छः बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छायें हैं, ईमानदार बनने की और बहिन को ढूँढ़ लेने की—जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच-बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। इस प्रकार उसे देखते-देखते मैं इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कह कर और शब्दों की खोज करने लगा तब मैं उसकी कठिनाई न समझकर हँस पड़ी। धीरे-धीरे

पता चला—बुलावा आया है, वह लड़ने के लिये चाइना जायगा। इतनी जल्दी कपड़े कहाँ बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुँचा कर वेईमान कैसे बने! यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूँ तो वह मालिक का हिसाब चुकता कर तुरन्त देश की ओर चल दे।

किसी दिन पिता का पता पूछने जाकर वह हकलाया था—आज भी संकोच से हकला रहा था। मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिये प्रश्न किया—'तुम्हारे तो कोई है ही नहीं फिर बुलावा किसने भेजा?' चीनी की आँखें विस्मय से भर कर पूरी खुल गईं—'हम कब बोला हमारा चाइना नहीं हैं? हम कब ऐसा बोला सिस्तर?' मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आई; उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा!

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या पर कुछ अपने पास खोज-ढूँढ़कर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। मुझे अन्तिम अभिवादन कर जब वह चञ्चल पैरों से जाने लगा तब मैंने पुकार कर कहा 'यह गज तो लेते जाओ'— चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर 'सिस्तर के वास्ते' ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गये।

और आज कई वर्ष हो चुके हैं—चीनी को फिर देखने की सम्भावना नहीं, उसकी बहिन से मेरा कोई परिचय नहीं, पर न जाने क्यों वे दोनों भाई-बहिन मेरे लिए स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी की गठरी में से कई थान मैं अपने ग्रामीण बालकों के कुरते बना-बना कर खर्च कर चुकी हूँ, परन्तु अब भी तीन थान मेरी आल्मारी में रखे हैं और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देखकर खादी-भक्त बहिन ने आक्षेप किया था 'जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं वे भी विदेशी रेशम के थान खरीदकर

रखते हैं, इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती' तब मैं बड़े कष्ट से हँसी रोक सकी थी।

वह जन्म का दुखियारा मातृ-पितृहीन और बहिन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुँचने का आत्मतोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं—पर मेरा मन यही कहता है। ●

काल-मृगया

अज्ञेय

उस निमन्त्रण के लिए मैं आभारी हूँ जो मुझे यहाँ ले आया। पहाड़ी के मुख्य भवन--गढ़ या हवेली—में मैं नहीं हूँ; इसका मुझे खेद भी नहीं है कि मैं उसमें नहीं ठहराया गया। बल्कि वैसा हुआ होता तो मैं कदाचित् इतना शान्त और स्वायत्त न रह पाया होता जितना यहाँ, ढाल पर नीचे बनाये गये, वन-सीमा को छूते इस छोटे, स्वच्छ, अ-भूषित, नये रैन-बसेरे में हूँ। विस्तीर्ण वन की सैर का लोभ ही मुझे यहाँ लाया भी। नहीं तो यह सूचना, कि कभी यह सारा इलाका एक बड़ा आखेट-वन था, जिससे गढ़रूपी शिकार-गाह में जब-तब आ टिकने वाले सरदारों को एक-साथ ही विलास, व्यसन, व्यायाम और आखेट का आनन्द उपलब्ध हो जाता था, मुझे थोड़े ही आकृष्ट करने वाली थी! अब शिकार नहीं होता, या कभी कोई अकेला-दुकेला शौकिया शिकारी दो-एक दिन के लिए आता भी है तो एक-आध हिरन या खरहों की जोड़ी मार कर ही अपनी सप्ताहान्त की सैर सफल मानता लौट जाता है। इसलिए वन में हिरन बहुत होंगे, यह तो मैंने सोच लिया था। चौकड़ी भरते हिरन से अधिक सुन्दर गति-विम्ब की कल्पना मेरे लिए कठिन है; पर यह सब भी तो वन-विहार का ही आकर्षण था, गढ़ का या उसकी भीतरी सज्जा-सम्पत्ति का नहीं।

पर अगर जीवन में अधिकतर वह नहीं मिलता जिसकी आशा लेकर कोई चलता है, तो कभी यह भी होता है कि उसके अतिरिक्त कुछ अप्रत्याशित उपलब्धि भी हो जाती है। और वन की दो लम्बी

सैरों के बाद मैं कुतूहलवश गढ़ में चक्कर लगाने गया हूँ तो ऐसा ही अतिरिक्त लाभ पाकर लौटा हूँ। यह भी किसी को लग सकता है कि प्रश्नों का ताँता लेकर लौटना कोई उपलब्धि नहीं है। पर मैं तो हमेशा मानता आया हूँ कि सही—या कम-से-कम शोध-प्रेरक और सारगर्भ—प्रश्नों तक पहुँच पाना भी जीवन की बड़ी उपलब्धि होता है। फिर यह भी है कि जिन अनुभूतियों से ये जिज्ञासाएँ प्रेरित होती हैं उन्हें कोई कैसे नगण्य मान सकता है जब वह यह स्पष्ट अनुभव करता है कि उनसे उसका आभ्यन्तर संसार समृद्धतर हुआ है? इतना ही है कि ये उपलब्धियाँ स्थूल न होकर सूक्ष्म हैं : पर वास्तविक उपलब्धि तो कोई स्थूल पदार्थ न होकर उससे सम्भाव्य आनन्द या सामर्थ्य-वृद्धि को ही गिनना चाहिए--इसीलिए तो वह 'उप'-लब्धि है, निरी लब्धि या लाभ नहीं।

पहाड़ी के सरदार गुजर चुके हैं। पीढ़ियों से खानदान में चला आया गढ़ सरदारों के वंशधरों ने शहर के धनी व्यापारी को बेच दिया है : खुद किसी दूर शहर में बसने चले गये हैं जहाँ कुलनाम भी पूँजी का काम दे और यह किसी को पता न हो कि बाकी रोकड़ कहाँ से आयी है! लेकिन मुझे सरदारों के वंशधरों से और इस खरीद-बेच से क्या? मुझे गढ़ भीतर से देखने का सुयोग अनायास मिल गया है : खरीदने वाले व्यौपारी, वर्तमान मालिक के किसी सम्बन्धी के मित्र के तुफैल से, जिन्हें कभी-कभी उस सूने रैन-बसेरे में अपने परिचितों को ठहराने की अनुमति मिल जाती है, और रूंगे में यह सुयोग कि गढ़ के भी चक्कर लगा लें—आखिर हवा लगाने के लिए भी तो गढ़ को जब-तब खोलना ही पड़ता है।

पहाड़ी के सरदार गुजर चुके हैं। गढ़ उन के वंशधरों ने शहर के धनी व्यापारी के हाथ बेच दिया है।

गढ़ की हर दीवार पर शिकार के बड़े-बड़े चित्र टँगे हैं। सरदार

मर चुके हैं; पर दीवार पर बारहसिंगे की शिस्त ले कर चार शिकारी अभी गोलियाँ दाग रहे हैं; अस्सी बरस से वह घायल बारहसिंगा उस दीवार पर टँगा मर रहा है। उस के, और उस के शावकों के सिर और सींग मढ़ा कर चित्र के ऊपर टँगवा दिये गये हैं और बिल्लौर की निर्वेद आँखों से उस का यों घिर कर मारा जाना देख रहे हैं—अस्सी बरस से वह यों निरुपाय मर रहा है। एक-दूसरे चित्र में घायल वनैले सूअर को शिकारी कुत्ते नोच रहे हैं और एक सिपाही कुत्तों को हटाता हुआ सूअर को बर्छी से मार रहा है। यह चित्र सवा-सौ बरस पुराना है। सवा-सौ बरस से सूअर को कुत्ते नोच रहे हैं और सिपाही बर्छी से भेद देना चाह रहा है; बर्छी पर टाँग कर ले जायेगा जहाँ उस की भूनी जाती लोथ के आस-पास सरदार और सरदारों के मेहमान जश्न मनायेंगे।

उधर फन्दे में फँस कर लोमड़ी झूल गयी है और धीरे-धीरे फाँसी पाती हुई छटपटा रही है। वह भी लगभग सौ साल से यों टँगी तड़प रही है कि कब दम टूटे और उस की यन्त्रणा समाप्त हो।

और भी कई चित्र हैं। हर कमरा-बारादरी एक चित्रदीर्घा है जिस में लगे चित्रों को पशुओं की बिल्लौरी आँखें एक-टक, निर्निमेष, निर्वेद दृष्टि से देखती रहती हैं; अस्सी, सौ, सवा सौ बरसों से देख रही हैं।

चित्रों में रस लेने वाले सरदार और उनके मेहमान मर गये हैं; हवेली शहर के व्यौपारी के हाथ बिक गयी है।

लोग सवाल उठाते हैं कि कौन किस के साथ है। कौन सरदारों के जो शिकारी थे, कौन व्यौपारी के जिस ने जमा पूँजी से हवेली खरीद ली, कौन सिपाही-प्यादे-किसान-बेगारी के जो लाशें ढोयेगा और चाम कमायेगा, कौन उत्पीड़ित बारहसिंगे, सूअर-लोमड़ी-खरहों के साथ जो अस्सी-सौ-सवा सौ बरस से टँगे तड़प रहे है।

वे सारे सवाल अपनी जगह ठीक हैं। लेकिन जो लिखता है उसके

सामने इनके अलावा और सवाल भी हैं। और नहीं तो इसीलिए कि वह चाहे जिसके साथ हो, सुख-दुख के अनुभव में किसी का भी साथ छोड़ नहीं सकता है नहीं तो मानवीय अनुभूतियों की अर्थवत्ता की पकड़ ही उससे छूट जायेगी। और ये सारे अतिरिक्त सवाल भी उतने ही अपरिहार्य हैं।

—वह क्या है जिस में सरदार मरे, व्यौपारी ने हवेली खरीदी, प्यादों ने बेगार भरी, ये जानवर छटपटाये—जिसमें पूछने वाले सवाल पूछते हैं और जिसमें मैं जीता हूँ ?

—काल : पर क्या ये काल एक ही हैं—वह जिसमें सरदार मरे, प्यादे दौड़े, सूअर तड़पे, और जिसमें मैं जीता हूँ ?

—और एक वह गढ़ में प्रवेश कर के चित्रों को पहले-पहल देखने का भाविक आघात : मेरे अनुभव में ये बारहसिंगे उस क्षण मरे हैं, सूअर उसी समय तड़पे हैं, अस्सी-सौ-सवा सौ बरस भी तभी हुए हैं पर असल में वह घटना भी तभी हुई है और मैंने किसी पहले से संचित जानकारी (के पूर्वग्रह) के सहारे उन के और अपने अनुभव के बीच समय का अन्तराल डाल लिया है। वह अन्तराल मुझे इस अनुभव की आनुभविक प्रामाणिकता से बचाता भी है, उसे ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी देता है, उसे मेरे समस्त अनुभवों, उनके क्रम और उनके अन्तराल-परिमाण के प्रामाण्य से नियन्त्रित भी करता है और पुष्ट भी। —जो अन्तराल मेरे मर्माघात के अनुभव को एक सातत्य देकर उसके चौखटे के भीतर सरदारों के मर रहे होने और सूअर के तड़प रहे होने, और बेगारी के खट रहे होने को एक सातत्य देता है।

—और एक वह काल जिस में आप इसे पढ़ेंगे और जिस में यह सब आप के साथ घटित होगा और घटित होने में घटमान होगा, बना रहेगा, जो इस समय, जब मैं लिख रहा हूँ, अभी होने को है ? सरदार मरेंगे,

सूअर तड़पेंगे, प्यादे दौड़ेंगे, मैं चित्र देख कर विचलित हूँगा और सवाल उछालूँगा जिन से आप—

—काल....प्रतीति....

—और सातत्य—नित्यताएँ : एक मर चुके होने की ऐतिहासिक नित्यता, एक जी रहे होने की आस्तित्विक नित्यता, और एक—यह जो चित्र-लिखित होने की नित्यता है, जिस में काल का जल शिलित हो गया है, यह....

पर शिलित ? क्या जब मैं उसे आप के सम्मुख प्रकाशित करता हूँ, तब क्या वह आप के भीतर उद्वेलित, तरंगायित नहीं हो उठता ? जो स्थिर है वही तो सब गतियों का सनातन स्रोत है, और जो गतिमान है वही तो अव्याहत अशेष का सनातन बिम्ब....इस युगनद्ध की परस्पर-भेदक गतिमयता का प्रतीतिगत रूपायन ही साहित्य-सर्जक की चिरन्तन समस्या है !

डबरे पर सूरज का बिम्ब

गजानन माधव मुक्तिबोध

जब उससे मैं सड़क पर मिला, मुझे लगा कि वह ठीक बात करने के 'मूड' में नहीं है। राह में मुझे देख कर वह खुश नहीं हुआ था। उसकी शर्ट की पीठ पसीने से तर-बतर थी, बाल अस्त-व्यस्त थे और चेहरा ऐसा मलिन और क्लांत था मानो सौ जूते खाकर सवारी आ रही हो। तत्काल निर्णय लिया कि वह सरकारी दफ्तर से लौट रहा है, कि वह पैदल आ रहा है, कि वह वहाँ अहलकार की किसी ऊँची-नीची साहित्यिक या राजनीतिक श्रेणी का ही एक हिस्सा है, वह मुझे फर्स्ट क्लास सूट-बूट में देख सिर्फ आगे बढ़ जाना चाहता है, क्योंकि वह बगल में खड़ा होकर कंट्रास्ट खड़ा नहीं करना चाहता।

पुराने जमाने में भूखे व्यक्ति को अन्न देने से जितना पुण्य लगता था, आधुनिककाल में शायद उससे भी अधिक पुण्य श्रम से मलिन और थके हुए व्यक्ति को एक कप गरम-गरम चाय प्रदान करते हुए दो मीठी बातें करने से लग जाना चाहिए। मेरे इस तर्क का आधार यह है कि आज-कल सच्चा श्रम, जिससे चेहरा सूख जाता है, पसीना आता है, कपड़ों की इस्तिरी बिगड़ जाती है, ओछे हुए बाल अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, उंगलियों को स्याही लग जाती है, आँखें कमजोर हो जाती हैं, अपने से बड़े पदाधिकारियों के मारे दिल धक्-धक् करता है। मतलब यह कि कम से कम मानवोचित सुविधाओं में अधिक से अधिक श्रम की मनुष्य-मूर्ति-दुनिया को तो

छोड़ ही दीजिए—अपने भाइयों की, उनकी आँखों में भी हजार सहानुभूतियों के बावजूद, सूक्ष्म और स्थूल अनादर की पात्र है, असम्मान की पात्र है। ट्रैजेडी तो यह है कि ऐसी मनुष्य-मूर्ति अपने स्वयं की आँखों में भी अनादर और असम्मान की ही पात्र होती है। इस विश्व-व्यापी और अंतर्यामी अनादर और असम्मान की धूल धारण कर, हृदय में बासी कड़ुआ जहर लिए हुये थके, क्लांत और श्रमित व्यक्ति जब अपने दफ्तरों से बाहर दो मील दूर अपने घर की तरफ़ लुढ़कते-पुढ़कते निकलते हैं तो उनके मन में और हमारे मन में श्रम का कितना महान् आध्यात्मिक मूल्य अवतरित होता है, वह वर्णनातीत है।

इस तिराहे पर खड़े होकर, मुझे उस व्यक्ति की जरूरत महसूस हुई। वह मेरा परिचित था। आखिर, जब मैं इस कोने में अकेला खड़ा हूं तो वह मुझसे बातचीत तो कर ही सकता था। मुझे लगता था कि जब तक मैं अपनी बकवास पूरी नहीं कर लूंगा मुझे चैन न मिलेगी।

मैं पान चबा रहा था। सुर्खरू था। ऐसे मौके पर मनुष्य स्वभावतः बुद्धिमान हो जाता है। उसमें आत्मविश्वास की तेजस्विता रहती है—वह क्षण-स्थायी ही क्यों न हो। वह आशावादी होता है। वह नसीहत दे सकता है। वह दूर-द्रष्टा होता है, चाहे तो पैगम्बर हो सकता है, चाहे तो वह रोमैंटिक प्रेमी बन सकता है। वाह-वाह ! सुर्खरूपन, तेरा क्या कहना ! बिना श्रम के जो प्राप्ति होती है, उपलब्धि होती है, वही तू है !

पल भर मैं संकोच की गटर-गंगा मैं डूब गया। मैं 'रीअली' (सचमुच) 'फर्स्ट क्लास' कपड़े पहने था। बेहतरीन सूट। मैं गया था शहर के ऊंचे दर्जे के कुछ लोगों से मिलने। वहाँ या तो महंगी किस्म की खादी के कपड़े चलते थे या ये कपड़े। आजकल मैं आधा

वेकार हूं। अपने ही घर में शरणार्थी हूं। लिहाजा, कुछ 'वड़े' आदमियों के यहाँ जाकर, एक असिस्टेंट डायरेक्टर के पद (यह जगह अभी खाली नहीं हुई थी, लेकिन सुना था कि होने वाली थी) के लिए कोशिश कर रहा था।

और ज्यों ही आप ऐसे कपड़े पहन लेते हैं, अपने धुले-पूंछेपन को स्वास्थ्य की संवेदना मानते हुए (थोड़ी देर के लिए ही क्यों न सही) अपने को 'वाश्शा' अनुभव करते हैं! गौरव और गरिमा की यह संवेदना !! तेरा नाम सत्य है, तेरा नाम शिव है, तेरा नाम है सौंदर्य!

लेकिन शहर के उस फैशनेबल मुहल्ले के अपने आत्मीयों से लौट कर मुझे आकस्मिक यह भावना हुई कि मैं अकेला हूँ, कि अपनी असली श्रेणी के साथी के साथ बैठ कर ही मैं अपने आनन्द का वितरण और उपभोग कर सकूंगा। और इसी अंत:प्रवृत्ति के अंदरूनी धक्के के फलस्वरूप मैं ऑफिस से लौटते हुए उस व्यक्ति को आमन्त्रण दे बैठा।

लेकिन ज्यों ही मैं उसके साथ चाय पीने लगा, हम दोनों के बीच एक जहरीली चुप्पी की रेखा दूरी का माप-दंड बनने की कोशिश करने लगी। मैंने उदारता की पराकाष्ठा करते हुए उसके लिए एक कप और मंगवा दी।

मैं अपने शरीर पर पड़े हुए कपड़ों से लगातार सचेत था। ये वस्त्र ही हैं कि जो मुझे उससे दूर ठेले जा रहे थे! इस संकोच को दूर हटाने के लिए मैंने कोट उतार कर रख दिया! गरमी के बहाने शर्ट के बटन इस प्रकार खोल दिये कि अन्दर उलटी पहनी हुई जीर्ण-शीर्ण फटी बनियान लोगों को दिखायी दे सके।

मैं चाहता था कि वह मेरे अन्दरूनी नक्शे को देखे। लेकिन शायद वह अपनी धुन के धुंधलके में उड़ते हुए थके-हारे पंछी की

भाँति नीड़ में समाना चाहता था। घर लौटना चाहता था।

मैं अपने को उससे एक गज ऊंचा अनुभव न करूं और सच्ची मेहनत का शाप न झेल सकने के कारण उससे एक गज नीचा भी न अनुभव करूं, इसलिए उसका जी खुश करके उसके साथ हंस बोल लेने के लिए मैंने उससे पूछा, "कल ऑल इण्डिया रेडियो से मैंने आपकी कहानी सुनी। बहुत अच्छी थीं ! पढ़ी भी अच्छी गयी!"

उसने मेरी तरफ ध्यान से देखा—यह जानने के लिए कि मेरा इरादा क्या हो सकता है।

उसने प्रभुतावश कहा, "अजी; आप तो बस ···आप तो आलोचक हैं, नुक्स बताइए।" मैंने विश्वास दिलाया कि उसकी कहानी बहुत अच्छी थी, क्योंकि वह सचमुच बहुत अच्छी थी। लेकिन उसका जी नहीं भरा।

उसने मेरी तरफ गौर से देखा। वह एक पतला लम्बा चेहरा था। जरूरत से ज्यादा ऊंचा माथा—शायद आगे के बाल कम होने के कारण। मुझे ऐसे चेहरे पसन्द हैं। ऐसे लोगों में आप डूब सकते हैं और आपकी डुबकी को वे 'एंजॉय' करने (मजा लेने) की ताकत रखते हैं। कम से कम मेरा ऐसा खयाल है। मेरे द्वारा की गई प्रशंसा के प्रति उसकी सन्देह की दृष्टि मुझे बहुत-बहुत भायी। एक सच्चा लेखक जानता है कि वह कहाँ कमजोर है कि उसने कहाँ से जी चुराया है, कि उसने कहाँ लीपा-पोती कर डाली है, कि उसने कहाँ उलझा-चढ़ा दिया है, कि उसे वस्तुतः कहना क्या था और कह क्या गया है, कि उसकी अभिव्यक्ति कहाँ ठीक नहीं है। वह इसे बखूबी जानता है। क्योंकि वह लेखक सचेत है। सच्चा लेखक अपने खुद का दुश्मन होता है। वह अपनी आत्म-शांति को भंग करके ही लेखक बना रह सकता है! इसीलिए लेखक

अपनी कसौटी पर दूसरों की प्रशंसा को भी कसता है और आलोचना को भी। वह अपने खुद का सबसे बड़ा आलोचक होता है।

बेचारा सर्वज्ञ शब्द-तत्पर आलोचक यह सब क्या जाने! वह केवल बाह्य प्रभाव की दृष्टि से देखता है! आलोचक साहित्य, का दारोगा है। माना कि दारोगापन बहुत बड़ा कर्तव्य है—साहित्य, संस्कृति, समाज, विश्व तथा ब्रह्मांड के प्रति। लेकिन मुश्किल यह है कि वह जितना ऊँचा उत्तरदायित्व सिर पर ले लेता है, अपने को उतना ही महान् अनुभव करता है और सच्चा लेखक जितनी बड़ी जिम्मेदारी अपने सिर पर ले लेता है, स्वयं को उतना अधिक तुच्छ अनुभव करता है। उसे अपनी अक्षमता और आत्मसीमा का साक्षात् बोध होता रहता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि वह अपनी अभिव्यक्ति की तुलना जी में धड़कने वाले केवल वस्तु-सत्य से हीं नहीं करता, वरन् अपने स्वयं के साक्षात्कार-सामर्थ्य की तुलना उस वस्तु-सत्य की विशालता से करता है। आत्म-सत्य भी कह सकते हैं उसे, जिसकी धारणा के लिए उसे लगता है कि जितनी आवश्यक मनः शक्ति उसमें चाहिए उतनी नहीं है। कभी-कभी तो उसे केवल आभास सम्वेदन से ही काम चला लेना पड़ता है। तब अपनी विषय-वस्तु की विशालता और गहराई की तुलना में लेखक अपने को हीन क्यों न अनुभव करे, जबकि वह खूब जानता है कि उसने जो कुछ वस्तुतः सम्पन्न किया है उससे भी अच्छा किया जा सकता था। विषय-वस्तु के प्रति लेखक का यह सम्वेदनात्मक उत्तरदायित्व, उसकी मनःशक्ति को किस तरह भंग किये रखता है, यह किसी सच्चे लेखक से ही जाना जा सकता है।

मैंने उस दुबले-पतले चेहरे के संदेह-भाव को देखा और बात पलटने की दृष्टि से कहा—"यह जरूर है कि आप की कहानी बहुत ज्यादा मनोवैज्ञानिक थी।"

उसने मुस्करा कर जवाब दिया, "मनोवैज्ञानिक न होती तो क्या होती ! मन में ही घुलते और घुटते रहने के सिवा और क्या है जिन्दगी में ?"

मैंने उससे असहमति प्रकट करना चाही। मैंने पूछा, "तो क्या आप कुण्ठा को मनोवैज्ञानिकता की जननी मानते हैं ?"

"कुण्ठा-वुण्ठा, मैं नहीं समझता", उसने जवाब दिया, "हर जमाने में गरीबों की मुश्किल रही है, हर जमाने में एक श्रेणी का दिल नहीं खुला है—बहुत विशाल श्रेणी का, भारतीय जनता का, मेहनतकश का।" वह आगे कहता गया, "पिछला कौन-सा ऐसा युग था जिसमें कुण्ठा न रही हो ? और फिर…और फिर… कुण्ठा का मतलब क्या है ?" उसने समझाते हुए कहा, "कुण्ठा का आधिपत्य तो तब समझना चाहिए जब कुण्ठा के बुनियादी कारणों को दूर करने की बेसब्री और विक्षोभ न हो। हाँ, कुण्ठा का अगर फ्रॉयडियन साइकोऐनेलिटिक मतलब लिया जाय तो दैनिक जीवन के कण्ठावरोध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुण्ठा शब्द फ्रॉयड-वाद और मार्क्सवाद की संकर सन्तान है।"

वह दुबला-पतला चेहरा मेरे सामने उठावदार और उभारदार हो गया, उसमें भव्य गरिमा प्रतिबिम्बित हो उठी। मुझे लगा— उसका दिमाग खुद-ब-खुद सोचता है। उस व्यक्ति में मेरी दिलचस्पी ज्यादा बढ़ गयी। मैं उसके विचारों को आदरपूर्वक सुनने लगा।

उसने मुझे बोलने का अवसर न देते हुए कहा, "मैं तो सिर्फ मेहनत पर, अकारथ मेहनत पर, उस मेहनत पर जो अपना पेट भी नहीं भर सकती, उस मेहनत पर, जो बहुत सज्जन है, उस सहनशील श्रम पर लिखने वाला हूँ, उस श्रम का चित्रण करना चाहता हूँ, जिसका बदला कभी नहीं मिलता और जिसे आये-दिन आत्म-बलिदान और त्याग की नसीहत दी जाती है ! मैं उस भयानक

मशीन का चित्रण करने वाली कहानी नहीं, बल्कि उपन्यास लिखने वाला हूँ, जिसमें हर आदमी वह नहीं है जो वह वस्तुतः है या होना चाहेगा। उसमें मशीन का दोष नहीं। मशीन चलाने वालों का गुरुतर अपराध है! इस मशीन की लौह-नलियों में पड़े हुए मानवी श्रम का मैं चित्रण करना चाहता हूँ। कहिए, आपका क्या खयाल है?

मैंने ढाई मिनिट तक जैसे साँस ही नहीं ली। उसके भाव-विचार ने न केवल मुझे प्रभावित किया था, वरन् दिमाग पर दबाव डाल दिया था। मेरे सिर पर वजन हो गया था।

मैंने धीरे-धीरे कहा, "जरूर चित्रण कीजिए, जरूर लिखिए!"

"क्यों, लेकिन आप चुप हो गये!"

मैंने कहा, "चुप नहीं, मैं सोच रहा था कि सिर्फ बहुत बड़ी थीम (विषय) उठा लेने से काम नहीं चलता। यह जरूरी है कि सिर्फ उतना ही अंश उठाया जाये जिसका मन पर अत्यधिक आघात हुआ हो। बड़ी भारी 'बिल्डिंग' खड़ी करने के बजाय छोटी-सी कुटिया खड़ी की जाये तो अधिक अच्छा होगा।

उसने कहा, "सही है। आसमान का चित्रण सधे न सधे, सामने के मैले डबरे में सूरज के बिम्ब का चित्रण करना चाहिए, शायद वह मेरे जीवन-सत्य के अधिक निकट होगा! उतना चित्रण मुझसे सध भी जायगा।" उस व्यक्ति के इस वचन में आत्म-दया की हल्की-सी गूँज मुझे सुनायी दी।

मैंने बेरुखी से कहा, "इस आत्म-दया की जरूरत नहीं। एक सच्चे 'आर्टिस्ट' का संघर्ष बहुत घुमावदार होता है। हाँ, लेकिन, आपकी 'इमेज' बहुत अच्छी है। हम सब लोग ऐसे ही डबरे हैं, जो अपने भीतर सूरज का प्रतिबिम्ब धारण किये हैं। पूरा वस्तु-सत्य इस 'इमेज' में आ गया है। इसीलिए वह महत्वपूर्ण है। हमारा

परिश्रम भी तो थोड़ा नहीं है। हमारी साँस भी तो उखड़ी-उखड़ी है। डबरे हुए तो क्या हुआ, हैं तो प्रकृति-जन्य !

एकाएक जैसे मैंने उसकी कमजोर रग पकड़ ली। उसमें आत्म-विश्वास की कमी थी। जब सिर्फ सीना तानकर लोग खोटा माल खपा देते हैं और प्रभाववादी होने के बहाने मामूली को गैर-मामूली बनाकर दुनिया के सामने उसे पेश करते हैं, तो जो चीज सही और सच्ची है वह क्यों न ऐठें ?

मैंने उससे कहा, "आजकल सचाई का सबसे बड़ा दुश्मन असत्य नहीं स्वयं सचाई ही है, क्योंकि वह ऐंठती नहीं, सज्जनता को साथ लेकर चलती है। आजकल के जमाने में वह है 'आउट ऑव डेट'। जी ! इसलिए सत्य जरा युयुत्सु बने, वीर बने, तभी वह धधक सकता है, चल सकता है, बिक सकता है।"

वह और भी अप्रतिभ हो गया। किन्तु उसके चेहरे पर भीतर की खुशी का ज्यादा उजाला लाने के लिए मैंने उससे कहा, "बोल्डनेस हैज 'जीनियस' (औद्धत्य की अपनी प्रतिभा है)। यह गेटे का वाक्य है। मैं इसे उलटा करके पढ़ता हूं।" मेरे कीमती कपड़ों के ठाठ ने मुझे कुछ उत्साहित तो कर ही दिया था (लेकिन क्या मैं सच कह रहा हूं ?)। जो हो, हम दोनों जब बिदा हुए, बहुत दोस्त बन कर बिदा हुए।

उस अमराई ने राम-राम कही है

विद्यानिवास मिश्र

भोपाल में 'एकत्र' की गोष्ठी थी, बाहर रिमझिम बारिश हो रही थी और हाल में 'हमारा समय' विषय पर तीन-तिलंगों का प्रवचन सुनने पचासेक समझदार लोग एकत्र थे। सबसे पहले बोले एक नाट्य-निर्देशक, एकालाप की शैली में अटक-अटक कर, शब्द टटोल-टटोलकर अपनी बात को दिली अपनाव में पिरोते हुए। उनके बाद बोलने उठे नपे-तुले शब्दों वाले, अतिशय सावधानी बरतने वाले एक आलोचक और उन्होंने प्रश्न उछाला—देखें अब नकली क्रांति की कविता करनेवाले, समकालीनता के पाधा लोग क्या करते हैं, चुप रह जाते हैं, या फिर फूलों-पत्तियों पर, चिरई-चुरंग पर कविता लिखते हैं। और उन्होंने फतवा दिया—वर्तमान की बात हिन्दी में विगत पन्द्रह वर्षों में की ही नहीं गयी, अब वक्त आया है वर्तमान को सोचने-समझने का। मेरी ओर इशारा करके उन्होंने पेशबंदी की—अभी मेरे बाद मेरे मित्र अतीत की बात करेंगे। पर मैं तो वर्तमान में रहना चाहता हूं। उसके बाद मैं भी बोला और गहमागहमी में गोष्ठी समाप्त हुई।

मेरे वर्तमानजीवी मित्र मुझे अतीतजीवी घोषित करते हैं और मैं कोई सफाई दूं भी तो उसका कोई अर्थ नहीं, क्योंकि वर्तमान पर मौजूदा समय में काबिज तो वे ही हैं। मेरा तो कब्जा न अतीत पर है, न वर्तमान पर। यहां तक की कभी-कभी लगता है कि भविष्य के सपनों पर भी अपना कोई हक नहीं रहा। उन सपनों की चप्पा-चप्पा जमीन छोटे-छोटे प्लाटों में बँट कर बेनामी खरीददारों के

नाम नीलाम हो चुकी है। कभी मेरे मित्र 'फागुनी शाम की अंगूरी उजास' से आलोकित और 'जंगली गंध में डूबी वतास' से पुलकित थे। आज वे पूरे शहरी बन चुके हैं। गाँव और खास करके हिन्दुस्तान के पिछड़े इलाके, पूर्वी अंचलों के गाँव का लगाव उनसे छूट गया है, उनका वर्तमान सुरक्षित हो गया है।

मेरी विडंबना यह है कि शहरों में रहते और घूमते बरसों बीत गये। अपने आलोचक मित्र की जागरूकता लेकर तो नहीं, पर कमोवेश मैंने भी दूर दिगंत नापे, कई रंगतें देखीं, कई आवाजें सुनीं, पर वर्तमान में तिरकर भी वर्तमान को अपनी जीविका नहीं बना सका। मुझे बराबर यही लगा कि वर्तमान को चबाने चलो यह अतीत हो जाता है। इसको एक घूंट में पीने चलो, यह धुत्त नशा बन जाता है। इसे मुट्ठी में बन्द करने चलो, यह रेत की तरह सुरसुर बाहर निकल जाता है। वर्तमान में जो लोग ठहर गये हैं, उन्हें ही वर्तमान में निरन्तर (हाथ-पैर मारते ही सही) तैरने वाले अतीत की ओर जाते दिखते हैं, क्योंकि वे लोग वर्तमान को एक आईना बनाकर खड़े हो गये हैं। उस आइने में समय का बोध विपरीत हो गया है। यहाँ अपनी जगह ठहरे रहने के लिए आदमी को दौड़ लगानी पड़ती है और सामने वाले आदमी के पास पहुंचने के लिए पीछे की ओर मुड़कर चलना पड़ता है। अपने वर्तमान को अतीत बनाने की निर्ममता मैं नहीं सीख पाया, मेरी यही कमजोरी है। मैं ठेठ गाँव का आदमी हूं इसको जबरन झुठलाने की कोशिश नहीं करता, यही मेरी अतीतजीविता है।

जानता हूँ, एक ऐसे देश का निवासी हूं, जो इतिहास की परवाह नहीं करता। कोई इतिहास रचकर अपनी संतान को उससे बाँधना नहीं चाहता। पर वह सृष्टि की पूरी यात्रा अपने जीवन में जीता है, प्रतिदिन वह अगर इतिहासपरस्ती का शिकार नहीं हुआ है, तो परम्परा में रहते हुए एक मंत्र दुहराता है। वह मंत्र सृष्टि का क्रम दुहराता है,

तप से ऋतु और सत्य पैदा हुए, उससे उद्भुत हुआ समुद्र, अर्णव समुद्र अर्णव से उद्भुत हुआ—संवत्सर; इस तप प्रकार से आकांक्षा के उत्ताप से ऋतु और सत्य (गतिशील और स्थितिशील धर्म) प्रवर्तित हुए और ऋतु और सत्य से अनन्त देश और अनन्तकाल के आयाम स्फुट हुए, इनसे सावधि देश और सावधि काल जनमे। मंत्र की धारणा है कि आज मैं अपने को सृष्टि की इस यात्रा से फिर जोड़ता हूं और नया सर्जन करता हूँ, अतीत को जीता नहीं, वर्तमान को बड़ा बनाता हूं। मेरे लिए न अतीत पलायन है, न गाँव पलायन है।

वैदिक-विज्ञान के गर्व से आस्फालित लोग मुझे पश्चिमी शिक्षा के निरीह शिकार लगते हैं। वेदों में अमुक-अमुक सभ्यता की नियामतें थीं और हमारी विमान-विद्या आज से भी ज्यादा विकसित थी, इस प्रकार की बातें सुनता हूँ तो मुझे बडी हंसी आती कि ये लोग पश्चिम की चमत्कारी उपलब्धि को नकारने की कैसी बचकानी कोशिश कर रहें हैं और किस तरह ये पशिचम के जाल में अपने आप फंसते चले जा रहे हैं उसी तरह आज गाँव के अमराई के आमंत्रण की बात भी बड़ी अवास्तविक लगती है। गाँव को शहर ने अपनी अष्टपदी लपेटों में जकड़ लिया है। गाँव बड़ो तेजी से न गाँव न शहर की शून्य स्थिति में पहुँच रहा है। उस गाँव के आमन्त्रण का क्या अर्थ ? रात घिरने से पहले चकई ने बुलाया होता, तो कोई बात भी थी। रात घिर आयी है, अब उस आमन्त्रण का क्या अर्थ ? जाऊँ भी तो बीच में साथ-साथ टूंगी गयी कमल की नाल ही व्यवधान बन कर और अधिक सालेगी। रवि ठाकुर और महात्मा गांधी के सपने बिखर चुके हैं।

हाँ मेरे लिए हिन्दुस्तान एक अछोर विस्तार है, एक अखंड संवत्सर है, एक निरंतर चलने वाला सर्वमेव है, जिसमें होत्ता, हवि और हवि को ग्रहण करने वाले परस्पर भूमिका बदलते रहते हैं।

निरपेक्ष रूप में न कोई होत्ता है, न हवि है, न हवि का भोक्ता! इस लिए गाँव में रहूँ चाहे न रहूँ, गाँव मुझमें बराबर रहता है। भिखारी दास का वह छंद, जिसमें नायिका अपनी सहेली के जरिये बसंत में प्रिय के पास यह संदेश भेजती है कि बसंत आ गया, तो भी तुम जो नहीं आये, तो अब फिर आने में क्या तुक है—बस—

एक काम करिबी सखि, आम मौर देबी यह और कहिबी,
वा अमराई ने राम-राम कही है।

"एक काम करना सखि, यह आम का बौर देना और कहना, उस अमराई ने प्रिय, तुमसे राम राम कही है।" आज गाँव के लिए कोई मोह-छोह नहीं पैदा करता, कोई विरह के तार भी नहीं छेड़ता, क्योंकि अमराई मेरे ऊपर आज भी छायी हुई है, भले ही वह अब बौरा न पाती हो। कभी-कभी किसी महानगर में जाता हूं, पाँच-छह दिनों के भीतर ही ऐसा लगता है कि कैसे भयावने जंगल में आ गया हूं। जहाँ पेड़-पौधे, झाड़ झंखाड़ की व्यवस्थित हरियाली भी कंक्रीट के विद्युन्माली, दैत्य, प्रासादी के बीच में कैद नजर आती है, जहाँ पाँच मिनट की औपचारिक भेंट के लिए घंटों धूलि-धक्का खाना पड़ता है, और वह भेंट भी ऐसी औपचारिकता या ऐसी घटिया किस्म की चवावरस में सनी आत्मीयता में पर्यवसित होती है कि यहां होता है कि व्यर्थ आये और जहाँ एक आदमी की ऊब से त्राण पाने के लिए आदमी को इसके सिवा कोई दूसरा चारा नहीं कि दूसरे आदमी से ऊबने के लिए तैयार हो जाये, इसलिए ऐसे ऊबजीवी लोगों की ऊब बनने में बड़ा डर लगता है।

कई बार सोचता हूँ कि अब फिर इस महानगर में नहीं आऊंगा। पर दो-तीन महीनों के भीतर ही फिर आना पड़ता है, जबकि गाँव जाने के कार्यक्रम सालों से बन रहे हैं और पूरे नहीं हो पा रहे हैं। शहरी जीवन में रहने की लाचारी ही गाँव की अमराई

को मन में बसाये हुए है। गाँव में अमराई कट रही है, भूमि-सुधार से सम्बन्धित जितने कानून बने, उन सबकी कुल्हाड़ी सबसे पहले, अमराई पर ही चली। जमींदारी-उन्मूलन हुआ, तो अमराई कटी, क्योंकि वे जमींदारों के हाथ से निकले जा रहे थे, इसलिए पेड़ों से जो कुछ तिरा जाये, ले लिया जाये। चकबंदी हुई तो अमराइ कटी कि कहीं यह दूसरे के चक में न पड़ जाये और जोत की हदबंदी हुई तो अमराई कटी कि जमीन तो निकली ही जा रही है, इसके पेड़ों से ही कुछ रुपये ले लिये जाएं। गर्जे कि कानून को हरियाली से वैर रहा, इसलिए गाँव की अमराई कट रही है और उसके साथ-साथ उस अमराई की छाया में बितायी गयी सुखघड़ियों के अपूर्व और अद्वितीय क्षण कट रहे हैं। पर मन की अमराई अभी बनी हुई है, क्योंकि वह अमराई शहरी जिन्दगी की दुर्निवार आवश्यकता है, शहरी जिन्दगी, जो ऊब नहीं बन पाती, जड़ से उखाड़ नहीं पाती, भीतर से तोड़ नहीं पाती, दया की मार से मार नहीं पाती, वह इसीलिए क्योंकि अमराई मन के ऊपर छायी हुई है।

अमराई से जुड़ने का अर्थ होता है, वसंत से जुड़ना, वसंत की तैयारी से जुड़ना, जीवन के नवीकरण की प्रक्रिया से जुड़ना, शक्ति के सघन श्यामल प्रसार से जुड़ना, संगीत मातृका दूर्वादलश्यामा महामातंगी से जुड़ना, पर्णपातन, पल्लवन, कुसुमन और फलन की समग्रता से जुड़ना, प्रकृति की एकतालबद्ध समाज की समस्वरता से जुड़ना, मनुष्य के एकांत-विश्वास से जुड़ना। और धरती उमंग की और आकाश के स्वस्ति-वाचन से जुड़ना।

मेरे लिए अमराई स्मृति नहीं है, साक्षात्कार है जीवन की वास्तविक सार्थकता का। यंत्र-चालित संसार में चल-फिर रहा हूँ, भूख और नींद तक सूरज के ऊपर आने या ढलने से नियंत्रित न होकर घड़ी से नियंत्रित हो गयी है, पर तो भी स्वयं यंत्र-बद्ध नहीं

हो पाया, इसका एकमात्र कारण मन पर छाया हुआ अमराई का साक्षात्कार है। मेरे लिए अमराई किसी दूर अतीत की चोरी-छिपे की गयी प्रणयलीला की स्थली नहीं थी, इसलिए उस रूप में आज न रहकर वह 'काँकरी' चुनने की जगह भी नहीं है, वह न किशोर चित्त की पनाहगाह थी, न प्रौढ़ चित्त की अब आरामगाह है, वह मेरे लिए पहले भी जीवन के स्वीकार की वृत्ति थी, आज भी है। आम पकने पर आता था, तो बच्चे ढेला चलाते थे, कुछ पके आम गिरते, ढेर सारे कच्चे आम गिरते, बूढ़े चोरी-चोरी रात में टपका हुआ आम बीनने आते और पकड़े जाने पर दयनीय लालसा की मूर्ति बन जाते। चुलबुली किशोरियाँ नखरे के साथ ढेरी में से आम निकालकर अपने स्निग्ध-कटाक्ष विक्षेप से अधिकार जतलातीं कि अभी इतना ही, बाद में फिर आऊँगी। गांव के निखट्टू घंटों तक दरबार लगाते और तब दाँत निपोरते। चार-पाँच आम पा जाते, इतने में ही निहाल हो जाते। गाँव की अखाड़ेबाज सोनारिन एक से एक लहरदार गीतों से अमराई की कोयलों को चुप कर देती और आँचल पसार कर मनचाहे आम ले जाती। उसके कंठ की मिठास के आगे आम अपने आप न्योछावर हो जाते। ऐसे भी, कभी-कभार मौके आते कि गिरोह बाँध कर रात में लोग आम लूटने आते और रखवाले प्रतिरोध करने पर लहूलुहान हो जाते। आम के पीछे फौजदारी का लंबा सिलसिला चलता और अमराई जी की कलंक बन जाती।

पर अमराई को आदमी का राग-द्वेष सब स्वीकार था। आम फलेंगे, तो उसके साझेदार आयेंगे ही। साझेदारी भी कई प्रकार की होगी। सुग्गे की एक साझेदारी होगी कि कुतर कर छोड़ देगा, वह आम और मीठा हो जायेगा। कौए की एक दूसरी साझेदारी होगी, ठोर लगा देगा, आम सड़ जायेगा। बन्दर की एक तीसरी साझेदारी होगी, जो आम खायेगा भी, डाल से तोड़-तोड़ कर नीचे भी फेंकेगा। और कोयल की एक चौथी साझेदारी होगी, जो केवल बौर चखेगी।

आम पकने पर बस मंजरी-तृप्त कंठ से कूकती रहेगी। इन सभी साझेदारियों को स्वीकार करके ही अमराई को अपनाया जा सकता है। अमराई हिन्दुस्तान के मुक्तमना आकाश का वितान है, वह नाना-धर्मी, नानाभाषी, नानावर्णी संतानों को शरण देनेवाली हिन्दुस्तानी जमीन का भीगा उच्छवास है, अमराई आज भी जीवन का आश्वासन है, यह दूसरी बात है कि आज वसंत से पतझर का और वर्षा से आतप का अनुपात काफी बढ़ गया है। फल हर साल नहीं आते। अमराई की सघनता कुछ बाढ़ ने, कुछ सूखे ने, कुछ सर्वग्रासी आदमी की पैसे की भूख ने छांट दी है। डालें भी छिनगा दी गयीं हैं। अब लू चलती है, तो अमराई के किनारे से नहीं निकलती, अमराई के बीच से निकलती है। अमराई काफी उघार हो गयी है। जिंदगी की अमराई की तरह ही भीषण उत्ताप से और उद्दाम उपल-वृष्टि से छीज गयी है। तव भी उसमें बौर न सही, फल न सही, किसलय न सही, अधसूखी डालें और कुछ इने-गिने पल्लव तो वच ही रहे हैं, जिनसे और कुछ हो न हो, मंगलघट तो ढका ही जा सकता है। बंदनवार तो तन ही सकती है। मैं चुहलबाजी के, प्यार के, ईर्ष्या के, द्वेष के केन्द्र में आज न भी होऊं, आज भी अगर किसी साधारण आदमी के छोटे-से समारोह को अपनी हरियाली दे सकता हूं, तो जीवन से अविच्छिन्न तो हूं ही। मैं अनुभव तो कर सकता हूं कि तपिश में झुलस रहा हूं, और यह तपिश मेरी अकेली नहीं, उनकी भी है, जो झुलसने की संवेदना खो चुके हैं। मैं सुवह की ओस में भींगते समय यह पहचानता तो हूं कि दर्द की सिहरन अकेली हो, पर दर्द मेरा अकेला नहीं, उनका भी है, जो सिहरन महसूस नहीं करते। मैं एकदम कगार पर आ गया हूं, जड़ें बाहर झाँकने लगी हैं, नीचे जामुनी जल लहरा रहा है, उस जल में बड़ी अपरूप छाया पड़ रही है, इसके बावजूद मैं अपने अकेले तनाव में अपनी अमराई से कट नहीं पाया, इतना कुछ कम नहीं है।

अमराई मेरा संकट-बोध और तीव्र करती है, मेरे आतंक को और सघन बनाती है, और मेरी निरन्तर रीतते जाने की प्रक्रिया को तेजी देती है। मुझे जब लगता है कि अब आगे राह खो गयी है, तो अमराई याद दिलाती है कि सबकी राहें खो गयी हैं, हर एक रास्ते को अंधकार लील चुका है। मैं जब आत्मीयता का प्रयोग एक मुखौटे के रूप में देखता हू, तो अमराई स्वयं एक बहुत बड़ा मुखौटा बन जाती है, और तब लगता है कि आत्मीयता की तलाश ही बेमानी है और इस बेमानी तलाश का रोना—कविता में रोना भी एक फरेब है।

शहर मुझे कोई भी अजनबी नहीं लगता, पर शहरियत बड़ी वैसी लगती है, शहरियत का तनाव जैसे सूचना देता हो कि जहरीली गैस चारों ओर फैल रही है, उससे बचो। किसी भी बात पर दिलजमई नहीं होती, न पृथ्वी के वातावरण के प्रदूषण से उपस्थित होने वाले प्रलय की चेतावनी पर, न मनुष्य के तकनीकी-कौशल की अपार क्षमता में विश्वास करने वाले वैज्ञानिक के स्वर्णिम भविष्य के सपनों पर। पर अमराई है कि संशय, आतंक और अविश्वास को आस्फालित करके भी एक ऐसी आकुलता पैदा करती है कि फिर कोई अपना बने न बने, पराया नहीं रह पाता। इसी कारण भक्ति का आस्वाद मुझे अनन्य तन्मयता में नहीं मिलता। (मैं भक्ति में विभोर हो जाने वाले लोगों से स्पृहा करता हूं।) पर यदि कभी भक्ति मुझे छूती है, तो अपनी दुरन्त बेचैनी के स्वरूप में, जब आदमी सोचता है—

'माधव हम, परिनाम निरासा'

तुम मिलोगे भी तो मेरे पास एक पल कहाँ ठहरोगे और ठहरे भी कुछेक क्षण तो बिछुड़ना तो है ही, और वह विछोह और दुस्सह होगा, तुमसे प्रेम करने का अन्तिम परिणाम दुरंत विरह है। विरह केवल तुमसे ही नहीं, अपने से भी, सब कुछ से भी जिससे भी जुड़ने

का लगाव रहा हो। भक्ति के इस एक अंश का भी स्पर्श, जो चेतना को कभी कभी झनझना देता है, उसके पीछे बसंत की उत्कंठा में अमराई का बौरना हो या बसंत के आगमन के बाद भी चैता के स्वर में आधी रात कोयल का कुहकना हो—पर जो कुछ है, वह अमराई का है, मेरा नहीं।

मुझे पूजा-पाठ का आडंबर देखकर कभी-कभी बड़ा संशय होता है, कि इस पूजा-पाठ के बाद भी क्यों कठोरता नहीं जाती, कृपणता नहीं जाती; पर जब कभी साल में एकाध बार विश्वनाथ जी की आरती में पहुंच जाता हूं, तो उस समय प्रकाश के छंदोबद्ध नर्तन और वाद्यवृन्द के मिस ताल के उत्कर्ष पर पहुंची हुई बाह्य-पूजा भीतर के मन को समस्त ऐन्द्रिय परिवेश से खींचकर ज्योतिरूप नाद और नादरूप ज्योति में अधिष्ठित करती लगती है। उस समय भीड़ का अनुभव लुप्त हो जाता है। समस्त जगत् प्रकाश का वलय बन जाता है, नाद की शिखर-शृंखला बन जाता है और बाह्य-पूजा का आडंबर भी मन पर छा जाता है। मेरे मन में कोई कामना नहीं जगती, कोई बेसुधी का भाव नहीं उमड़ता ईश्वर का स्वरूप नहीं उभरता पर कुछ देर के लिए मन आरती के छंद में बंध जाता है। मुझे लगता है कि इतना भी अनुभव मेरे जैसे आधे आस्तिक आदमी को होता है, उसका कारण भी अमराई की समष्टि चेतना का संस्कार है।

आये दिन ऐसा होता है कि सुबह से आधी रात तक यह पता ही नहीं चलता कि यह शरीर अपना है, यह मन अपना है, यह घर अपना है। घर लगता है, रेलवे प्लेटफार्म है, शरीर लगता है हैंडिल से चलने वाला पम्प है, मन लगता है हजार लोगों के हाथ बंधक रखा हुआ पुराना मकान है, जिसके दावेदारों के बीच निरन्तर प्रतिस्पर्धा मची रहती है। रात सोने जाता हूं—या ठीक-ठीक कहूं—चारपाई पर भहराने जाता हूं, तो पैरों में, कमर में और सिर में दर्द सूचना देता

है, कि यह शरीर अपना है; तथाकथित लोक-संग्रह का अहंकार गलने लगता है। और पूरे दिन के कार्य-कलाप की व्यर्थता मन में चुभने लगती है। तब मन के असली मालिक की सुधि आती है। नींद तो जरूर उड़ जाती है और भूतों के सपने जैसे दिन का खुमार उतरते ही रात कुहनी की चोट की तरह उजागर हो जाती है। पर ऐसी अवस्था में भी जो यह उत्कंठा जगती है कि अपने 'स्व' को असली दावेदार को सौंपना कब हो पायेगा, कब ठीक तरह से शरीर दूसरों के उपयोग में इस प्रकार आयेगा कि वे दूसरे अपने हो जायें, कब यह दुविधा मिटेगी कि सम्पत्ति कमाने वाले की है कि उपयोग करनेवाले की, कब मन के मीत फुरसत में मिलेंगे, इस उत्कंठा के द्वारा जो जिजीविषा नये सिरे से पैदा होती है, उसका भी कारण अमराइवाला मेरा गँवारपन है, जो पर्युत्सुकता जिलाये रखता है।

बहुत दिनों के बाद इस साल छह-सात दिनों के लिए बारात करने गाँव गया। काफी कस के गर्मी पड़ रही थी। दिन में पाकड़ के पेड़ के नीचे चारपाई बिछाई जाती, तो ऊपर से गोदे गिरते छोटे-छोटे भुनगे गिरते, दुपहरी बिताना कठिन हो जाता। पर उसी दुपहरी में गाँजे की दम पर दम ली जाती, और पूरे वातावरण पर गाँजे का धुआँ छा जाता। गांजे के दम के बाद अमृतस्वर में हारमोनियम पर भजन, कजली, लावनी, कव्वाली सबका समाहार संगीत छिड़ता और लोग झूम-झूम उठते। अकेले मुझे ऐसा लगता कि मैं यहाँ बिल्कुल अजनबी हूँ। गँवार मन, गंवार भाषा, गँवार वेश-भूषा लेकर भी मैं गांव की इस गहमागहमी में घुलमिल नहीं पाया। शायद इसलिए कि गांव शहर बनने की आकुलता में अपना गाँवपन छोड़ रहा है (गाँवपन छूट नहीं रहा है, यह अलग बात है) या शायद इस लिए की शहर में रहनेवाले बाराती स्वाद बदलने के ख्याल से गांव में आये हों, ये दोनों चीजें मुझे प्रिय न लगीं। पर उस पूरी बारात की अवधि में एक साधारण-सी पैर धोने वाली कहारिन में मुझे अमराई

की आत्मीयता मिली। पता लगा कि उसके जवान लड़के जाते रहे, पर उसके चेहरे पर शोक की छाया नहीं है। आवाज में करुण मिठास जरूर है, पर जिस आजिजी से वह हर पाहुन के पैर धोती, भोजन के लिए आग्रहपूर्वक बुलाने आती, उससे लगता कि उसका हताश वात्सल्य अखंड सेवाव्रत में परिणत होकर महनीय बन गया है। यह भी पता चला कि दिन-रात बारात में खटती रहेगी। बारात विदा होगी, तो वह कई दिन विह्वल रहेगी कि अब दूसरी बारात कब आयेगी, कब इतने सारे पाहुन आयेंगे।

जानता हूं, मेरे प्रगतिशील आलोचक मित्र इसे सामंतवादी कुसंस्कार कहेंगे, पर दूसरों की खुशी में अपना गम डुबा देने की ऐसी साधना को गहरी मानवता का संस्कार मानने के लिए मैं लाचार हूँ। मेरे लिए गाँव मधुबनी चित्रों की फैक्टरी नहीं है, न पिकनिक की जगह, न आधुनिक नगर सभ्यता की देह पर रिसता हुआ घाव, न तेज बदलाव की भंवर में पड़ी हुई अधनंगी जंगली तरुणी की देह ! मेरे लिए गाँव एक विश्व है, अपने संपूर्ण 'स्व' की पहचान का एक निःश्वासांध दर्पण है, इसी गाँव-बोध के कारण मैं विच्छिन्न क्षणमात्रावच्छिन्न वर्तमान में विश्वास नहीं करता। मैं सनातन वर्तमान में विश्वास करता हूँ। अपने चित्त की विभक्तता में, मन की टूटन में और ऐन्द्रिय आकुलता में भी अखंडता की बात यदि सोच पाता हूं, तो इतना तो लगता ही है कि हिन्दुस्तान एक अमराई है। मैं उसका पुंस्कोकिल न सही, दशहरे के विजयपर्व का नीलकंठ न सही, असीम आकाश के लिए छोटी-सी धरती की बेचैनी मुखर करनेवाला चातक तो हो सकता हूँ, और अपनी नहीं, सबकी प्यास बुझाने के लिए बादल को टेर सकता हूँ—'पी कहाँ' 'पी कहाँ'। मैं उस अमराई का संदेश तो अपने आलोचक मित्र जैसे कठकरेजी पर अपने को सर्वहारी और जनवादी मानने वाले सपूतों के पास पहुंचा सकता हूं कि 'उस अमराई ने राम-राम कही है!'

बैलगाड़ी से

श्रीलाल शुक्ल

बहुत दिन की बात है, तब मैं उन्नीस साल का था और कॉलिज में पढ़ता था। उस साल दशहरे की छुट्टियों में एक मित्र के बुलाने पर दो मित्रों के साथ मैं उसके गाँव के लिए शहर से चल पड़ा। हम घर से ताँगे पर चले। ताँगे ने हमें बड़े स्टेशन पर छोड़ा। वहाँ हमें रेलगाड़ी मिली। रेलगाड़ी ने हमें एक छोटे से स्टेशन पर उतारा। वहाँ हमें बैलगाड़ी मिलनी थी। बारह मील का रास्ता था।

हम लोग अपने स्वागत के लिए किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी एक निहायत गन्दे आदमी ने आकर हमें सलाम किया। मैंने पूछा, "क्या चाहते हो ?"

गन्दे आदमी ने कहा, "आप ही लोग शहर से आये हैं हुजूर ? चलिए, रामबाबू ने बैलगाड़ी भेजी है।" इतना कहकर सड़े हुए दाँतों की एक टेढ़ी-मेढ़ी कतार दिखाने के लिए उसने अपना मुँह फैलाया और, फिर बिना किसी कारण या प्रोत्साहन के हंसी की एक फुलझड़ी छोड़ दी।

शहर से आने में या रामबाबू के बैलगाड़ी भेजने में कोई हंसी की बात है या नहीं, इस पर बिना सोचे ही हम लोग इस गन्दे आदमी के पीछे-पीछे चल दिये। इस बीच में मैंने उससे पूछा, "तुम गाड़ीवान हो ?" जवाब में उसने हँसी की एक दूसरी फुलझड़ी छोड़ दी।

हम लोग स्टेशन से बाहर एक बरगद के पेड़ के पास पहुंचे। दिन के ग्यारह बजे थे। कुवार का महीना था। चारों ओर चमकती धूप। बीच में गहरी, काली छाँह। मेरे दो साथियों में एक साहित्य और दर्शन के विद्यार्थी थे। इसी बात के सबूत में उन्होंने कहा, "इसी छाया को देखकर कवि ने कहा होगा, 'कहो कौन तुम दमयंती-सी ...'।"

पर मेरी निगाह उस गन्दे आदमी पर थी जो पेड़ के नीचे जाकर एक बैलगाड़ी के पास खड़ा हो गया था। वहीं दो बैल बैठे हुए थे—एक सफेद, एक काला। बीच में जमीन पर भूसे और ज्वार की कुट्टी के कुछ टुकड़े पड़े थे। जाहिर था कि बैलों ने पेट भरकर भोजन किया है। अब वे आँख मूंदे बड़े ही शान्त और संयत भाव से जुगाली कर रहे थे। ऐसे वातावरण में मुझे दमयन्ती का खयाल नहीं आया। बल्कि मुझे लगा कि मैं किसी आश्रम में आ गया हूं। इसलिए मैंने अपने दार्शनिक साथी से कहा, "भाई, तुम्हारे विचार ही गर्हित हैं। यहाँ दमयन्ती कहाँ! यह तो वटवृक्ष की छाया है। दोनों बैल उन महर्षियों की भाँति हैं जिन्होंने सांसारिक प्रपंच का जुआ अपने कंधों से उतार कर फेंक दिया है। अब वे आँख मूंदकर परमहंसों की भाँति बैठे हुए हैं।"

मेरे दूसरे साथी राजनीति के विद्यार्थी थे। वे बोले, "और देखो तो, एक बैल काला है, एक सफेद है। पर इनमें काले-गोरे का भेद-भाव नहीं है। ये दोनों एक ही जगह बैठकर खाना खाते हैं। कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हैं। एक ही बैलगाड़ी में साथ-साथ जुतते हैं। इन बैलों से उन बहुत से देशों को शिक्षा मिल सकती है, जहाँ वर्ण-भेद के कारण ।"

"हट्-हट्, तिक्-तिक्" की जोरदार आवाज ने मेरे राजनीतिक मित्र को यहीं रोक दिया। हमने देखा, वह गन्दा आदमी इस मन्त्र

को बार-बार दुहरा रहा था और तालू, जीभ और गले के प्रयोग से ऐसे-ऐसे स्वर निकाल रहा था कि दोनों बैल पूँछ फटकार कर खड़े हो गये थे। उन्होंने मुँह का फेना जमीन पर गिरा दिया, नाक से जोरदार साँस निकाली, सींग हिलाकर गले की घण्टियाँ बजाईं और इस तरह ऐलान कर दिया कि दो महर्षि फिर से संसार का जुआ अपने कंधों पर रखने को तैयार हो रहे हैं।

गन्दे आदमी ने हमारे देखते ही देखते बैलगाड़ी में ढेर से पुवाल के ऊपर एक टाट का टुकड़ा बिछाकर हमारे बैठने का इन्तजाम कर दिया। बैठने के पहले हमने उस गाड़ी को एक निगाह देखा। यह न तो ऐसी गाड़ी थी जो "चरमर चरमर चूं चररमरर" वाले स्तर की होती है; जिस पर भूसा, गल्ला, ईंटा ढोया जाता है और जो पूंजी-वादी व्यवस्था की मजबूती के लिए काम में लाई जाती है। न यह ऐसा सूक्ष्म और सुन्दर शकट ही था जिस पर मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना ने अपने परिभ्रमण का सुख उठाया होगा। यह एक मझोले कद की गाड़ी थी। इसकी सतह पर गोबर और खाद के पुराने निशान बने थे, जिससे जाहिर था कि इसका प्रयोग 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन में होता रहा है। साथ ही इसके पहियों के 'हब' से रेंड़ी का तेल अब तब चू रहा था, जिससे जाहिर था कि गाड़ी को बहुत दिन बाद पहियों पर लाया गया है।

गाड़ी में बैल जुत गये। महर्षि लोग गृहस्थाश्रम में आ गये। हम तीनों अन्दर बैठे, हमारे ऊपर चादर का हुड फैला दिया गया। गाड़ीवान ने जो हमारे पास वैठने के कारण अब गन्दा आदमी कहलाने से बच रहा है, गाड़ी चला दी। गाड़ी घरघराती हुई छाँह से धूप में, स्टेशन से मैदान में और मैदान से उतरकर एक सँकरे गलियारे में आ गई। यहाँ बैलों का उत्साह धीमा हो गया। आन्दो-लन की प्रगति ढीली हो गई। गाड़ी धीरे-धीरे डेढ़ मील फ़ी घंटे को

चाल पर उतर आई। गाड़ीवान भी पहले तो "हट्-हट्, तिक्-तिक्" का नारा लगाता रहा। फिर बैलों को कोसने लगा। फिर उन्हें पुचकारने लगा। फिर चुप हो गया। फिर हमारी ओर पैर फैलाकर बैठ गया। फिर लेट गया। फिर सो गया।

बैल धीरे-धीरे चलते रहे।

मेरे मन में, न जाने क्यों, बड़े ही उदात्त भाव पैदा हो रहे थे : इस गाड़ी को बैल चलाते हैं। बैल धर्म का प्रतीक है। अतः बैलगाड़ी वह गाड़ी है जो धर्म से चलती है। यह हमारी धर्मधुरीण प्राचीन संस्कृति का उपलक्षण है। इसके सहारे हमारी संस्कृति जहाँ थी, वही है और वहीं रहेगी। हम स्पुटनिक और रॉकेटवाले देशों का मुकाबला भले ही न कर सकें पर हमने भी कछुए और खरगोश की कहानी पढ़ी है और जब तक हमारी बैलगाड़ी का कछुवा सत्यता की लीक पर चल रहा है, हमें हार का डर नहीं है ¨।

मेरे मन में ऐसे ही भाव उमड़ रहे थे कि गाड़ी का एक पहिया किसी गड्ढे में धक्का खाकर नीचे गया फिर ऊपर निकल आया। हमें लगा कि हमारी कमर के पास से जिस्म को गन्ने की तरह किसी ने तोड़ दिया है। पर हमारे दार्शनिक मित्र बोले, "बैलगाड़ी के पहिये ऊपर-नीचे जाकर हमें दुख-सुख के चक्रों का पाठ पढ़ाते हैं। "चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।"

मैंने भी जवाब दिया, "बैलगाड़ी ही हमारे दर्शन और काव्य का आदि स्रोत हैं। तभी कालिदास ने कहा है, "नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।"

इसी बीच में बैलगाड़ी का पिछला हिस्सा एक ओर को झुककर जमीन से सट गया। जुआ उछलकर आसमान की ओर ताकने लगा। हम लोग बालू के बोरों की तरह एक दूसरे पर लुढ़क गये। हुआ यह था कि गाड़ी लीक से बाहर घूमकर एक गड्ढे में जा पड़ी

थी। दोनों बैल जुए से बाहर निकल कर इस तरह सींगें हिला रहे थे और पूंछ फटकार रहे थे जैसे वे किसी का भी मुकाबला कर सकते हों।

गाड़ीवान ने बैलों की नाथ खींचकर उनके मुँह पर जोर-जोर से तमाचे लगाये, उन्हें गाड़ी में जोता और फिर वह हंस-हंसकर कहने लगा, "बड़े तेज बैल हैं, हजूर। वो, वो, जो गुलाबी साफा बाँधे हुए कोई साइकिल पर जा रहा है, उसी को देखकर भड़क गये थे। नये-नये काढ़े गये हैं, हजूर।"

इस बात का कोई जवाब नहीं था। गाड़ी फिर चल पड़ी। इस पर हमारे राजनीतिक मित्र बोले, "जैसे कालिदास को इस बैलगाड़ी से उत्कृष्ट साहित्य को प्रेरणा मिली थी, वैसे ही आजकल यह प्रजातंत्र की प्रेरक शक्ति है। ये बैल कैबिनेट के समान हैं। गाड़ीवान प्रेसीडेंट का काम करता है जो बैलों को चलाता है और नहीं भी चलाता है। यह गाड़ी, यह गाड़ीवान, ये बैल—ये सब हमारे हैं। हम जनता हैं।"

पता नहीं, मित्र का व्याख्यान कब खत्म हुआ। कुवार का महीना, हरियाली, आलसभरा घाम, ठण्डी हवा—इसने जादू का काम किया। हम थके थे ही। कुछ ही देर में एक-एक करके सो गये। गाड़ीवान पहले ही मुँह पर अंगोछा डालकर लेट गया था। गाड़ी धीरे-धीरे चलती रही।

अचानक किसी ने मुझे जगाया। मैंने आँख मलकर देखा। गाड़ी उसी बरगद के पेड़ के नीचे खड़ी थी। मैंने और ध्यान से देखा। हम स्टेशन के पास ही थे। गाड़ीवान बैलों पर लगातार डंडे बरसा रहा था। हमें जगा हुआ देखकर उसने हंसी की एक और फुलझड़ी छोडी और हमें समझाने लगा, "अरे हजूर, ये बैल ही गब्बू हैं। बड़े सीधे जानवर हैं हजूर। इस इलाके के लोग भी बड़े बदमाश हैं।

मेरी जरा-सी आँख झप गई। बस किसी ने बैलों का मुँह मोड़ दिया, गाड़ी घुमा दी और फिर उसे स्टेशन की ही तरफ चला दिया। दो कोस तक निकल गये थे, हजूर, फिर उतना ही वापस लौट आये।"

गाड़ीवान के हँसने के पहले ही दार्शनिक मित्र ने गंभीरता से कहा, 'प्रगति एक मिथ्या तत्त्व है। हम चाहे जितना चलें, घूमकर फिर वहीं आ जाते हैं।"

राजनीतिक मित्र बोले, ("प्रजातन्त्र तभी सफल होता है, जब जनता जागती रहती है। यह सब हमारे ही सो जाने का नतीजा है।")

गाड़ीवान ने हँसते हुए बैलों को फिर से गाड़ी में जोत दिया। महर्षिगण फिर संसार-चक्र में आ गये। "हट्-हट्" और "तक् तक्" के साथ हमारी बैलगाड़ी फिर पुरानी लीक पर चल पड़ी।

मैं क्यों लिख़ता हूँ

रामनारायण उपाध्याय

मैं आपको यह राज की बात बता देना चाहता हूँ कि मैं नहीं लिखता वरन् कोई आता है और मुझसे अपनी बात लिखा ले जाता है।

मैं तो एक साधारण आदमी हूँ। गाँव और शहर में मेरे चार मित्र हैं। मैं उनके साथ शहर के किसी भी होटल से चाय पीता हूँ चौराहे की दूकान पर पान खाता हूँ। झोला लेकर साग-भाजी लाने में मुझे झिझक नहीं होती। यदि कभी तीसरे दिन भी शेव्ह नहीं कर पाता तो ऐसे नहीं लगता कि मुझे आज बाहर नहीं निकलना चाहिए। कभी-कभी तो बिना प्रेस किये कपड़ों में समूचे शहर का चक्कर लगा आता हूँ।

मैं विशिष्ट किसी अर्थ में नहीं हूँ। मैंने देश-विदेश की यात्रा नहीं की। राजधानी के काफी हाउस में बैठकर साहित्य की चर्चा नहीं की। कहानी के नये या पुराने होने के वाद-विवाद में भाग नहीं लिया। मैं तो साहित्य का एक जिज्ञासु विद्यार्थी रहा हूँ। मैंने नई और पुरानी दोनों तरह की रचनाएँ खूब पढ़ी हैं। मेरी ऐसी मान्यता है कि डाक विभाग के शार्टर की तरह साहित्य को नये और पुराने खानों में बाँटा नहीं जा सकता। मैंने पुरानी कृतियों में भी शाश्वत साहित्य के चिह्न देखे हैं और नये कहानियों को भी किस्सा तोता-मैना जैसे पुराने कलेवर पर इठलाते पाया है।

एक संस्कारनिष्ठ परिवार में मेरा जन्म हुआ। गाँव के खुले वातावरण में मैं पढ़ा और पला। मिट्टी की सोंधी सुगंध और फसलों के मस्ती भरे गीतों को मैंने सदा अपने नजदीक अनुभव किया है। इसी से इस देश की आम जनता की भाषा से मैं परिचित रहा हूँ और उसी से स्नेह एवं दर्द को लेकर मेरी अधिकांश रचनाओं का निर्माण हुआ है। मेरे घर के आँगन में से लोक गीतों की गङ्गा बहती रही है। मैंने उनके प्यार भरे गीतों को गाया और उनके दर्द ने मुझे रुलाया भी है। उन्हीं के जीवन्त संस्पर्श को लेकर मेरी कलम की स्याही सदा गीली रही है।

एक लेखक की तरह मैंने कभी गम्भीर होने का अभिनय नहीं किया। बल्कि बच्चों की शिकायत है कि मैं उनसे भी ज्यादा बच्चा हूँ। जब चार मित्रों को लेकर गोष्ठी जमती है, हँसी के कहकहों से घर गूँज उठता है।

मुझे कभी सम्मान की भूख नहीं लगी। मेरी यह मान्यता है कि मनुष्य या तो अपने लिए सम्मान पा सकता है या अपनी रचनाओं के लिए। इसलिए मैंने अपनी रचनाओं को आगे रखकर अपने आपको पीछे रखने का प्रयत्न किया है। कारण जिन्होंने भी अपने लिए सम्मान चाहा! उन्हें अपनी रचनाओं की बलि चढ़ानी पड़ी।

साहित्य में मैं स्नेह को बहुत मूल्य देता हूँ। पैसा तो कोई भी कमा सकता है लेकिन स्नेह का अर्जुन सिर्फ साहित्यकार ही कर सकता है। इसी से मुझे साहित्यकार मित्रों से मिलने में सुख होता है। जब भी किसी नए शहर में जाता हूँ, सबसे पहले वहाँ के साहित्यकारों के पते लगाकर उनसे मिलता हूँ। बड़े आदमियों से मिलना मुझे कत्तई पसन्द नहीं लेकिन साहित्यकार अगर साधारण-जन भी हो तो उसका घर खोजकर उसके यहाँ जाने में सुख अनुभव होता है। सोचता हूँ 'लेखक होकर भी जिसमें अपने सहयोगी मित्रों से मिलने की प्रेरणा न जगे, वह कैसा साहित्यिक है?' जिनसे मिल नहीं पाता, उन तक पत्रों के माध्यम से अपना प्रणाम पहुँचाने में संतोष अनुभव कर लेता हूँ।

गाँव के एकान्त जीवन में डाक मेरा सबसे बड़ा साथी है। किसी अंतरंग मित्र के आने की तरह मैं उसकी प्रतीक्षा किए रहता हूँ। डाक में मुझे अपने मित्रों के पत्रों का बड़ा मोह रहा है। मिलकर तो आदमी बाध्य होता है दो बात करने के लिए, लेकिन बिना मिले भी जिनमें अपनों की याद जगे, याद के उन चरणों में मैं श्रद्धा से नत हूँ। अपने नाम आने वाले हर पत्र का जवाब देना मेरा स्वभाव है। किसी के पत्र का जवाब नहीं देने में मुझे ऐसा लगता है, जैसे कोई हमारे दरवाजे पर दस्तक दे, और हम घर में होकर भी नहीं बोले। हर आने वाले से मिलना और हर खत का जवाब देना मेरे जीवन का अनिवार्य अंग बन चुका है। सोचता हूँ सबसे मिल चलो, न जाने किसी रूप में भगवान मिल जायँ।

मैं जब भी किसी पत्र-पत्रिका में अपना नाम पढ़ता हूँ, तो सोचता हूँ क्या यह मैं ही हूँ और मुझे लगता है कि मुझसे बड़ा तो मेरा नाम है। जहाँ मैं नहीं जा सका, वहाँ पर पहुँचा है और जिनसे मैं नहीं मिल सका उनसे वह मिला है। अनेक बड़े आदमियों से उसने मेरा परिचय कराया है। मैं जब भी किसी नये आदमी से मिलने के लिये जाता हूँ तो वह सामने आकर कहता है—'भाई साहब, आप जरा ठहरिये, मैं अभी आया।' और वह तुरन्त ही सूक्ष्म रूप रखकर सुरसा के मुँह में प्रवेश करने वाले हनुमान की तरह एक चिट के माध्यम से उस कार्यालय में पहुँचता है और वहाँ पर बैठे आदमी के कान में जाने क्या कहता है कि वे तुरन्त ही मुझे बुला लेते हैं।

अगर मैं किसी से मिलने पर उसे अपना नाम नहीं बताऊँ तो संभव है मेरी रचनाओं को सम्मान के साथ छापने वाला संपादक मुझे अपने कमरे में न आने दे और मेरा अतरंग मित्र ट्रेन के किसी डिब्बे में मिल जाने पर अपना होल्डाल बिछाने की धुन में मेरे झोले को एक तरफ फेंक दे। वह तो मेरा नाम ही है जो सदा बीच में आकर मेरी रक्षा करता है।

मैं मित्रों के प्रश्नों से परेशान हूँ। कभी कोई पूछता है कि आप क्यों लिखते हैं। प्रश्न जरा मुश्किल है। लगता है जैसे मैं नहीं लिखता वरन् कोई आता है और मुझसे अपनी बात लिखा ले जाता है। बहुत बार यदि मैं चाहूँ तो भी लिख नहीं सकता, लेकिन कभी-कभी ऐसा आवेग आता है कि मैं रात में सोते से उठ बैठता हूँ और जब तक मन की बात लिख न डालूँ तब तक मुझे चैन नहीं पड़ती।

मन में जब भी कोई नया विचार आता है, मेरा खाना पीना, सोना-बैठना मुश्किल हो जाता है और तब मैं उस विचार का एक छोर पकड़-कर टहलने लगता हूँ। रुई को पींजने की तरह विचारों को धुनक कर उनकी पौनी बना, मन के चरखे पर उससे तार निकालने में बड़ा आनन्द आता है और फिर जैसे कोई ताने बाने से कपड़ा बुनता है उसी तरह विचारों को बुनकर मेरी रचना तैयार हो जाती है।

यदि उसमें कहीं कोई शब्द ठीक से नहीं बैठता तो यंत्र में फिट किये जाने वाले पुर्जे की तरह मैं उसकी जगह पर अनेकों नये नये शब्दों को रख कर देखता हूँ कि इनमें से कौन-सा शब्द वहाँ ठीक से बैठता है और इस तरह जो शब्द उस जगह पर ऊँचा या नीचा नहीं पड़ता उसे ही वहाँ पर रख देता हूँ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ प्रिय शब्दों का मोह त्याग कर उन्हें इसलिये निकाल देना पड़ता है कि वे भाषा के प्रवाह में बाधक जान पड़ते हैं। उनके निकालते ही ऐसे लगता है कि प्रवाह अब सहज हो गया है और बात अब ठीक ढंग से कही गई है।

लिखने से पूर्व मैं रचना को पूरी तरह मन में तैयार कर लेता हूँ और बाद में तो जैसे कोई कापी तैयार करता है ऐसे मन की तसवीर कागज पर उतरती चलती है।

लिखने के लिए मुझे किसी खास समय या बाह्य साधन की आवश्य-कता नहीं है। जब भी मौज आती है बिना किसी टेबुल कुर्सी, सिगरेट के

कश या चाय की प्याली के खाली जमीन पर बैठकर पैर की सीट पर दफ्ती जमा लिखने में आनन्द आता है।

हाँ जब रचना मन में उमड़ रही हो, तब मैं पूरा एकांत चाहता हूँ। इसमें कभी-कभी बड़ी मुश्किल होती है। जब मैं अपने एकांत कमरे में या खाना खाते समय मन ही मन किसी विचार को गुनगुनाने लगता हूँ तो श्रीमतीजी पूछती है—'यह किससे गुफ्तगू चल रही है?' और यूँ मैं उनके मजाक का पात्र बने बिना नहीं रहता।

लिखने के लिए मैंने कभी नहीं लिखा, आर्डर पर माल देने की तरह आर्डर पर लिखने की मेरी आदत नहीं है। किसी के कहने पर लिखना भी चाहूँ तो ऐसे लगता है कि अब मैं लिख ही नहीं सकूँगा। लेकिन कभी-कभी मैं अपनी जेब में कागज और कलम डाल खेतों में निकल जाता हूँ और किसी खेत की मेड़ पर बैठ, सुदूर क्षितिज को निहारते हुए मेरी रचना का रूप अपने आप ही निखरने लगता है। गाँव का वातावरण और गाँव के व्यक्ति मेरे मन के विशेष अनुकूल रहे हैं।

कई बार जब अपने गाँव से आठ मील दूर स्टेशन से घर आने के लिये सवारी नहीं मिल पाती तो किसी विचार का छोर पकड़कर उसे लम्बाते हुये घर आ जाता हूँ और यूँ मेरा एक निबन्ध तैयार हो जाता है।

मुझे अक्सर तेज बुखार से भी लिखने की प्रेरणा मिलती है। लगता है जैसे बुखार की गरमी से विचार पिघलने लगते हैं और मैं उन्हें मनचाहे साँचे में ढालने के लिए विवश हो जाता हूँ।

कभी-कभी जब बड़ी रात गये तक नींद नहीं आती तो रात्रि की नीरवता और आकाश के सौन्दर्य भी लिखने में सहायक होते हैं।

जब भी कोई सच्ची या अच्छी बातें मन पर छा जाती हैं तो उसे एक मन से दूसरे मन तक पहुँचाने के लिए भी लिखता आया हूँ।

मनुष्य की मनुष्यता पर जहाँ भी प्रहार होता है, उसका विरोध करने के लिये भी मैंने लिखा है।

सच तो यह है कि लिखना मेरे जीवन का अविभाज्य अंग है और अपने आपको अधिक से अधिक आदमियों के साथ आत्मसात करने के लिये ही मैं लिखता हूँ। लिखने में मुझे आत्मदान करने की तरह सुख मिलता है।

मैं क्यों लिखता हूँ? शायद इसलिये कि मैं लिखे बिना नहीं रह सकता।

एक मित्र ने पूछा कि 'आप व्यंग्य क्यों लिखते हैं?' मैंने कहा—अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये उससे सशक्त और कोई माध्यम नहीं है। जब किसी समाज का शरीर सुन्न पड़ जाता है और उस पर छोटी-मोटी बातों का असर नहीं होता, तब उसे व्यंग्य की गहरी चुटकी काट-कर ही जगाया जा सकता है, व्यंग्य जो सुई की तरह चुभे, पर दर्द पैदा न करे। लाल चिउटी की तरह काटे, पर अपने पीछे जलन न छोड़ जाये। कुछ का कहना है कि उससे दृष्टि एकांगी हो जाती। मेरा उनसे कहना है कि व्यंग्य वही कर सकता है जिसके दिमाग में एक स्वस्थ समाज के निर्माण का नक्शा होता है। वह जब अपनी कल्पना के समाज का निर्माण होते नहीं देखा, वह तिलमिला उठता है। उसकी इस तिलमिलाहट में से ही व्यंग्य का जन्म होता है। आचार्य कृपलानी, महावीर त्यागी और जे० सी० कुमारप्पा के व्यंग्यकार होने का यही रहस्य है। एक बात और है जिसमें रचनात्मक साहित्य का निर्माण करने की शक्ति नहीं होती वह व्यंग्य कर ही नहीं सकता। ख्वाजा अहमद अब्बास, किशन चन्दर, श्रीलाल शुक्ल, केशवचन्द्र वर्मा, सर्वेश्वर दयाल, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी और प्रभाकर माचवे व्यंग्यकार होने के साथ ही साथ सफल निबन्धकार भी रहे हैं।

व्यंग्यकार का यह दुर्भाग्य है कि उसके व्यंग्य को भी हास्य में ले लिया जाता है। सुप्रसिद्ध व्यंग्य सम्राट बर्नार्ड शा का कहना है कि समाज की कड़ी से कड़ी आलोचना करने पर भी मैं सरे बाजार कोड़े

खाने से इसलिये बच गया कि लोगों ने मेरी बात को हँसी में उड़ा दिया।

उस दिन एक मित्र ने पूछा—'आपको अपनी पुस्तक पर कितनी रायल्टी मिली ?'

बहुत सोचा, लेकिन कोई ऐसा अंक खोज नहीं पाया, जिसे अपने मित्र को बताकर गर्व अनुभव कर सकूँ। पिछले बीस वर्षों से निरन्तर लिख रहा हूँ तो क्या इन बीस वर्षों में ऐसा कुछ नहीं पा सका, जिस पर गर्व किया जा सके। तभी मेरे आँखों में कुछ चित्र तैरने लगे।

पिछले आठ वर्षों से, रक्षाबधन पर मेरे नाम से लिफाफे में एक राखी आती है। कौन भेजता है इसे ? इसकी भी एक लम्बी कहानी है। आज से करीब आठ वर्ष पूर्व 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में मेरी एक रचना छपी थी। उसका शीर्षक था—'न कोई खत, न कोई लिफाफा।' उसमें मैंने अन्तर्देशीय पत्र के जन्म पर एक व्यंग्य कथा लिखी थी। उसके कुछ दिनों पश्चात् अन्तर्देशीय लिफाफे पर ही, मुझे एक खत मिला, जिसमें कोई सम्बोधन नहीं था।

लिखा था—'कितना आश्चर्य होगा सम्बोधन रहित पत्र को देखकर। पर इसमें मेरा कोई दोष नहीं, बुद्धि का दोष है। 'मित्र' लिखने को इच्छा थी लेकिन कुछ भी तो पूर्व परिचय नहीं। 'भाई' लिखना चाहती हूँ, लेकिन पत्र में ही नहीं मेरे जीवन में भी भाई का जो स्थान रिक्त पड़ा है, क्या आप उसे भर सकेंगे ?' और उसके बाद मेरा पत्र पाकर, प्रतिवर्ष रक्षाबन्धन पर मैं उस अनदेखी बहन से, अपने लिए एक रक्षा सूत्र पाता आया हूँ। सोचता हूँ मेरी रचना की इससे बढ़कर और क्या रायल्टी हो सकती है ?

और यह दूसरा पत्र किसका है ? किसी बुकसेलर का ? अथवा किसी संस्था ने मेरी पुस्तकें मँगाई है। जी नहीं !! यह तो एक अस्पताल से आया है। सुदूर वृन्दावन से अस्पताल के बिस्तरे पर पड़े एक रोगी ने लिखा है—

'मैं बहुत दिनों से प्राणघातक रोग से पीड़ित हूँ। आपका साहित्य पढ़ने की आकांक्षा है। लेकिन मेरी आर्थिक दशा ऐसी नहीं कि खरीद कर मँगा सकूँ। अतएव प्रार्थना है कि आप अपनी कुछ पुस्तकें जिनमें संभव हो तो 'गरीब और अमीर पुस्तकें' भी रहे, भेजकर अनुगृहीत करेंगे। विश्वास है आपका स्नेह-दान अवश्य मिलेगा।'

और मुझे लगा कि जैसे मेरी पुस्तक का समूचा संस्करण खरीद लिया गया हो। किसी की पुस्तक, किसी मरणासन्न रोगी को सांत्वना दे सके, इससे बढ़कर और उसका क्या मूल्य हो सकता है!

एक दिन बस से मैं अपने गाँव जा रहा था, कि इसी बीच रास्ते के एक गाँव से एक किसान चढ़ा और मुझे देखकर बार-बार हँसने लगा। मुझे उसकी यह बेतुकी हँसी अजीब लगी और मैंने पूछा—'हँसते क्यों हो भाई?'

बोला—'एक दिन मेरी बच्ची स्कूल से एक किताब लाई थी, उसे पढ़कर मेरी स्त्री और बच्ची दोनों खुश हुये। आज आप दिखे तो मुझे उस पुस्तक की याद हो आई और मैं अपनी हँसी रोक नहीं पाया। सोचता हूँ आप इतनी अच्छी किताब लिख कैसे लेते हैं कि जिसे पढ़कर मेरी स्त्री और लड़की दोनों खुश हों।'

एक बार मैं एक दफ्तर में पहुँचा तो मैंने देखा, वहाँ का एक बाबू मेरी बात पर ध्यान ही नहीं दे रहा था। इसी बीच एक परिचित साथी ने मुझे पुकारा। जैसे ही उसने मेरा नाम सुना, वह अपनी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और बोला—'मुझे क्षमा करेंगे। मैंने आपको पहिचाना नहीं था। आप वहीं है ना? जिन्होंने एक बार इटारसी स्टेशन पर एक आने का प्लेटफार्म टिकिट खरीदते समय, बाबू के पास चेंज नहीं होने से दस रुपये का नोट यह कहकर रख आये थे, कि जब गाड़ी चली जावे तब दे देना। और उसके बाद जब आप चेंज लेने पहुँचे तो उस बाबू की ड्यूटी बदल चुकी थी। फिर भी नये बाबू ने आपको पूरे नौ रुपये पन्द्रह आने

लौटा दिये। मैंने आपकी वह 'अनजाने-जाने-पहिचाने' पुस्तक पढ़ी है। अभी-अभी 'ज्ञानोदय' व 'धर्मयुग' का लेख भी पढ़ा। यद्यपि गरीब होने से हम हरेक पत्रिका को खरीदकर नहीं पढ़ सकते लेकिन पुरानी पुस्तकों की दूकान से पुरानी पत्रिकायें खरीदकर आपकी रचनायें पढ़ लेते हैं।'

मुझे अपने इस गरीब, किन्तु पढ़ने की दिशा में समृद्ध पाठक पर गर्व है।

एक दिन मुझे किराये की सायकल की आवश्यकता थी। मैं एक फुटपाथ पर बैठे सायकल वाले लड़के से किराये की सायकल ले गया।

आधे घंटे बाद जब मैंने सायकल लौटाते समय किराये के पैसे देना चाहे, तो उसने पैसे लेने से इन्कार कर दिया। बोला—'जब से आपकी रचनायें पढ़ी हैं, तभी से आप से मिलने की इच्छा थी। आज अनायास ही भेंट हो गई। वैसे मेरे पास क्या है, जिससे आपकी सेवा कर सकूँ। क्या आप मुझे इतना अधिकार भी नहीं देंगे कि मैं आपसे किराये के पैसे नहीं लूँ।' और उसके इस स्नेह के समक्ष मैं आज भी कृतज्ञता से नत हूँ।

सोचता हूँ मेरी रचना पढ़कर पत्र में नहीं, जीवन में मुझे अपने भाई का स्थान देने वाली वह बहन, अस्पताल में पड़ा वह नौजवान, जिसके मन में मृत्युशैय्या पर भी मेरी पुस्तक पढ़ने की याद जगती है, बस में मिलने वाला वह किसान जिसे इस बात पर हँसी आ जाती है कि मैं इतनी अच्छी किताब लिख कैसे लेता हूँ, जिसे पढ़कर उसकी स्त्री और लड़की दोनों खुश हों, दफ्तर का वह बाबू जो रोटी में से रकम बचाकर पुरानी किताबों की दूकान से मेरी रचनायें खरीदकर पढ़ता है, तथा किराये की सायकल की दूकान चलानेवाला वह गरीब लड़का, जो मुझसे इसलिये अपनी सायकल का किराया नहीं लेना चाहता कि मैं लेखक हूँ।

क्या इन सबका यह असीम स्नेह, मेरी पुस्तक की पर्याप्त रायल्टी नहीं है!

प्रमुख समीक्षा-ग्रन्थ

काव्य-शास्त्र
डॉ० भगीरथ मिश्र — २५

पाश्चात्य काव्यशास्त्र
डॉ० भगीरथ मिश्र — ६०

पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव
डॉ० रविन्द्र सहाय वर्मा — १५

नवस्वच्छन्दतावाद
डॉ० अजब सिंह — ६०

आलोचक का दायित्व
डॉ० रामचन्द्र तिवारी — १५-

साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद
डॉ बच्चन सिंह — २५-

मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य
डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव — १२-

जनवादी समझ और साहित्य
डॉ० रामनारायण शुक्ल — ३५

अज्ञेय की गद्य-शैली
डॉ० सावित्री मिश्र — ५०

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
डॉ० रामचन्द्र तिवारी — ३०-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलोचना कोश
डॉ० रामचन्द्र तिवारी — ५०-०

नवलेखन समस्याएँ और सन्दर्भ
डॉ० श्यामसुन्दर घोष — २५-०

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी।

अमिताभ बच्चन
भलिभांति जान लेन
जब एंग्री यंगमैन वे
देश का सामाजिक
इसके लिए सलीम
सकते हैं। जिसने
नजरों से पढ़ा और
अमिताभ के अनुकू
अब नहीं है। अब त
सफल फिल्में देता च
में एक खासियत
हंसमुख दिखता है
हंसी का फुट होता
में गोविंदा अभी त
पाया है। इसके विप
ही गंभीर नजर आ
जब तक कोई निर्दे
कर पायेगा। तब त
सुपरहिट फिल्में नहीं
है एक सफल निम
हिट नहीं करवा पा

आपने क्या किया
- खुशी मनायी।
ी। मैं लिटिल के
वीडियो में सोनाली
ी मुझ पर फिल्म
ल्में मिलने पर भी
० क्या आपके
आने का विरोध
- ऐसा कुछ भी